भाषा साहित्य समीक्षा

डॉ० विनय मोहन शर्मा

भाषा साहित्य समीक्षा

एकमात्र वितरक

स्मृति प्रकाशन

६१, महाजनी टोला, इलाहाबाद-३

डॉ॰ विनय मोहन शर्मा

कथन

साहित्य का सृजन यद्यपि स्रष्टा के अन्तर में होता है परन्तु उसे सम्प्रेषणीयता प्रदान करने के लिए शब्द का रूप धारण करना ही पड़ता है। इस तरह अन्तर का भाव शब्दों का बाह्य आवरण धारण कर साहित्य की विशिष्ट विधा बन जाता है। इसीसे क्रोचे ने भाव और अभिव्यक्ति में कोई भेद स्वीकार नहीं किया। 'भाव अनूठो चाहिए भाषा कैसेहु होय', सिद्धान्त साहित्य में सौन्दर्य की उपेक्षा करता है। साहित्य को संवेद्य बनाने के लिए अनुभूति समन्वित भावों के अनुरूप पद-योजना (भाषा) की साधना अनिवार्य शर्त है। जहाँ भाव और भाषा में पार्थक्य दिखायी देता है वहाँ 'रचना' साहित्य के अन्तर्गत नहीं आनी चाहिए। इसीलिए हम ललित गद्य में भी विशिष्ट पद-योजना के समर्थक हैं; जिस प्रकार कविता व्याकुल क्षणों में प्राणवान बनती है, उसी प्रकार सबल गद्य भी बेचैन क्षणों की प्रतीक्षा करता है।

आज कविता ने शब्द-लय को त्याग कर स्वच्छन्द गद्य का रूप धारण कर लिया है। उसमें 'अर्थ-लय' की निहिति की चर्चा केवल तर्क-जाल जान पड़ती है।

भाषा का अध्ययन व्याकरण की अपेक्षा जन-सम्पर्क से सम्पन्न होता है। किसी भी भाषा का व्याकरण उसकी मात्र प्रवृत्ति और प्रकृति के आधार पर किया जाता है और किया जाना चाहिए। हिन्दी भाषा पर विदेशी प्रभाव बहुत तेजी से पड़ता जा रहा है, जिससे कभी-कभी वह अस्वाभाविक-सी लगने लगती है। हो सकता है, बहुत समय बीत जाने पर वह भाषा में इतना घुल-मिल जाय कि अपनी बाह्यता खो कर उसकी प्रकृति ही बन जाय। इधर वाक्यों को अँग्रेजी ढंग पर लिखा जाने लगा है। हिन्दी की प्रकृति के अनुसार कहा जाता है, 'राम ने लक्ष्मण से कहा कि तुम पंचवटी में रह कर सीता की रक्षा करना।' पर आज अँग्रेजी भाषा की प्रकृति के अनुसार लिखा जाता है, 'राम

ने लक्ष्मण से कहा कि वह पंचवटी में रह कर सीता की रक्षा करें।' इसी प्रकार लिखा जाता है कि 'वह आ रहे हैं', पर लिखा जाना चाहिए, 'वे आ रहे हैं।' पंजाबी भाषा की प्रकृति के अनुसार कुछ लेखक लिखने लगे हैं—'हमने यह कार्य अवश्य करना है।' हिन्दी की प्रकृति के अनुसार होगा—'हमें यह कार्य अवश्य करना है।'

पूर्वांचली बोलते-लिखते हैं—'हमने पुस्तक पढ़ा है', पर साधु हिन्दी के अनुसार होना चाहिए, 'हमने पुस्तक पढ़ी है।'

इसी प्रकार 'हस्ताक्षर' और 'दर्शन' का एकवचन रूप पश्चिम और मध्यवर्ती हिन्दी क्षेत्र में अटपटा लगता है। 'आपका हस्ताक्षर चाहिए' या 'आपका दर्शन हुआ' के स्थान पर 'आपके हस्ताक्षर चाहिए', 'आपके दर्शन हुए' साधु प्रतीत होते हैं।

शब्दों की वर्तनी में भी एकरूपता नहीं है, जो सम्भवत: सम्भव नहीं हो सकेगी। भाषा का आदर्श रूप क्या हो यह कहना कठिन है। युगानुरूप वह अपना रूप सँवारती रहती है। उसके रूप परिवर्तन के संक्रान्ति काल की अवस्था में अनभ्यस्तों को 'अनभल' लगते हैं। हिन्दी का क्षेत्र हिन्दी प्रान्त तक ही नहीं, समस्त भारत, फिजी, मॉरिशस, ग्वायना आदि विदेशों तक व्याप्त है, अत: उसके रूप में स्थानीय भाषा की छाया का पड़ना स्वाभाविक ही है। साधु हिन्दी के प्रेमियों को इससे चौंकने की आवश्यकता नहीं है। हमें केवल यही देखना है कि वह छाया हिन्दी की प्रकृति के बहुत प्रतिकूल तो नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक में 'हिन्दी भाषा' के सम्बन्ध में इसी दृष्टिकोण से विचार किया गया है।

साहित्य सम्बन्धी लेखों में उसकी शाश्वतता के उपादानों की चर्चा की गयी है। साहित्य क्या लिखित उद्‌गार मात्र है या अलिखित रूप भी है? अपठित जनता जो उमंग में गाती-बोलती है, क्या वह साहित्य नहीं है? जो हमारे हृदय को स्पर्श करता है, वह चाहे लिखित हो, चाहे चलित—'साहित्य' ही है और सहृदय व्यक्ति ही किसी उक्ति या उद्‌गार से प्रभावित हो सकता है। अत: उस व्यक्ति के लिए ही उक्ति या उद्‌गार साहित्य होता है। शेष (अरसिकों) के लिए तो वे भैंस के आगे बीन बजाने के समान ही नीरस सिद्ध होंगे। इसीलिए तो संस्कृत के आचार्यों ने अरसिकों के सम्मुख कवित्त निवेदन का निषेध किया है।

हिन्दी में सन्तों की वाणियों का प्रचुर संग्रह हो रहा है। ऐसा संग्रह क्या साहित्य कहा जायगा? यदि साहित्य का अर्थ-विस्तार किया जाय तो हम उसे

भी साहित्य के अन्तर्गत परिगणित कर सकते हैं। उसे हम नीति-साहित्य कह सकते हैं। हिन्दी में नीति-साहित्य प्रचुर मात्रा में है। महाकाव्य की संज्ञा से अभिहित ग्रन्थों में भी नीति-कथन स्थल-स्थल पर मिलते हैं। तो क्या वे महा-काव्य के अंग नहीं बन गये हैं ? कई सन्तों की वाणियों में हृदयस्पर्शी भाव विद्यमान होने से ही हम उन्हें काव्य साहित्य के अन्तर्गत रखते हैं, शुष्क उपदेश-भरित वाणी नीति-साहित्य के अन्तर्गत रखी जा सकती है।

ग्रन्थ के अन्त में कतिपय पुस्तकों की आलोचनाएँ दी गयी हैं। इसका यह अर्थ कदापि न लिया जाय कि ये आधुनिक हिन्दी साहित्य की सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ हैं। व्यावहारिक आलोचना का रूप प्रस्तुत करने की दृष्टि से ही हमने अपनी पसन्द की पुस्तकें चुन ली हैं। 'कोरा कागज' सद्य: प्रकाशित उपन्यास है, जिसमें लेखक का अप्रतिम आदर्श है। आलोचना की दो कृतियों में पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों की विशद चर्चा है, जिनका विषय मौलिक नहीं है, प्रदिपादन मौलिक है। और शंकर शेष के नाटकों में मंचीय तन्त्र के नवीन प्रयोग हैं। प्रयोगों की अनुकूल-प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ स्वाभाविक हैं।

इस पुस्तक के शीर्षक में तीन शब्दों का प्रयोग व्यावहारिक है, प्रतिपादित विषयों का संकेत देने के लिए। उसके विचारों से पाठक सहमत होंगे या असह-मत इसका विचार लेखक क्यों करे ?

अन्त में इसके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन में सोत्साह योगदान देने वाले डॉ० शेष तथा श्रीयुत श्री प्रकाश जी को अनौपचारिक धन्यवाद देने की इच्छा होती है।

ई–१/१४३, अरेरा कालोनी
भोपाल
आषाढ़ कृष्ण एकादशी, संवत् २०२९

—विनय मोहन शर्मा

विषय-सूची

विहगावलोकन

साहित्य अन्वेषण में साहित्य और शोध पर आलोचनात्मक दृष्टिपात किया गया है। साहित्य कभी परिभाषित नहीं हो पाया। यदि हो पाता तो कदाचित् उसके अनेक रूप स्रष्ट ही न हो पाते और वह मानव की नित नूतनता के प्रति जिज्ञासु-वृत्ति का पोषक न बन पाता, उसे चिरयुवा बने रहने के लिए भी उसकी परिभाषा अन्वेषण का विषय बनी रहनी चाहिये।

आज परिवेश चित्रण साहित्य की अनिवार्य प्रतिबद्धता मानी जाने लगी है। क्योंकि साहित्यकार वर्तमान में जीवित रहना चाहता है और यथार्थदर्शन में आस्था रखता है, पर क्या परिवेश या वस्तु का साहित्य में यथार्थदर्शन हो पाया है। वस्तुतः द्रष्टा की वस्तु दर्शन की प्रतिक्रिया को ही यथार्थ मान लिया गया है। भौतिक विज्ञानियों का यह विश्वास हो गया है कि जो वस्तु जिस रूप में दृष्टिगोचर होती है वह वास्तव में वैसी नहीं है। सत्य तो बाह्य रूप से भिन्न है, जिसका अन्वेषण शेष है। कवि चन्द्रमा को सुन्दरतम मानता है और अनिन्द्य सुन्दरी के मुख की उपमा उससे दे कर विभोर हो उठता है, पर क्या वास्तव में चन्द्रमा सुन्दर है? क्या उसकी किरणें शीतल हैं? चन्द्रमा का सौन्दर्य कवि-मानस की सृष्टि है, उसकी किरणों का शैत्य या ताप द्रष्टा की मानसिक स्थिति के परिणाम हैं। कहने का आशय यह है कि साहित्य में वस्तु या परिवेश का चित्रण यथार्थ न हो कर प्रतिक्रियात्मक होता है। द्रष्टा उनसे जिस रूप में प्रभावित होता है, उसे ही अंकित करता है। ऐसी स्थिति में साहित्य वस्तुगत न हो कर आत्मगत अभिव्यक्ति ही है।

आज के हिन्दी साहित्य में निराशा, कुंठा, घुटन आदि नकारात्मक भाव या विचार शब्दायित हो रहे हैं। वे भारत के व्यापक परिवेश के चित्रण नहीं हैं। उनका अधिकांश भाग पाश्चात्य साहित्य से उधार लिया हुआ प्रतीत होता है। भारतीय प्रत्येक परिस्थिति में आशान्वित रहना चाहता है, क्योंकि वह किसी परिस्थिति को स्थायी नहीं मानता। 'जगत्' शब्द गति का ही द्योतक है। प्रकृति में कृष्ण-पक्ष के उपरान्त शुक्ल-पक्ष का आगमन होता है। भारतीय इस सत्य में आस्था रखता है और जीवन के कृष्ण-पक्ष को अस्थायी मानकर

सहजभाव से ग्रहण करता है। कुंठा, घुटन आदि किसी विचार या आवेग के बलपूर्वक दमन का नाम है। भारत विचार स्वातन्त्र्य पर विश्वास करता आया है। समाज-स्वास्थ्य की दृष्टि से उसने व्यक्तिगत कुंठा या घुटन को महत्व नहीं दिया। भारत ने 'हम' को महत्व दिया है 'मैं' को नहीं। उसकी प्रार्थनाओं में प्रायः समूह की आकांक्षा निहित रही है—

सर्वे सुखिनः भवन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः

इसी प्रकार सूर्य उपासना में मेरी नहीं, हमारी बुद्धि को प्रबुद्ध बनाने की प्रार्थना है। यूरोप व्यक्तिवादी है, इसलिए उसके साहित्य में अधिकांश व्यक्तिगत नैराश्य, कुंठा आदि निषेधात्मक भावों का सहज संचार है। विज्ञान ने धार्मिक विश्वासों पर भले ही कुठाराघात किया हो, पर वस्तु में निहित सत्य की झलक देखने की उसकी उत्कंठा कम नहीं हुई है। दृश्यमान जगत् में भी अदृश्य तत्व विद्यमान हैं। इस तथ्य का आभास उन्हें होने लगा है। पदार्थों का जड़ और चेतन नामकरण भी भ्रामक सिद्ध हो चुका है। जड़ से चेतन की सृष्टि होती है। चेतन जड़ को स्रष्ट करता है। ये दोनों मान्यताएँ या तो सत्य हैं या सत्य नहीं। रूप दृष्टि से यह असत्य कही जा सकती हैं और अरूप दृष्टि से सत्य। हम इन मान्यताओं को सत्य मानते हैं, इसी से हमारा मत है कि साहित्य का वस्तुगत और आत्मगत रूप भिन्न दिखायी देते हुए भी अभिन्न है। दृश्य और अदृश्य जगत की द्रष्टा के मन पर होने वाली प्रतिक्रिया का परिणाम साहित्य है।

सम-सामयिक समीक्षा जगत में अव्यवस्था चिन्तनीय है। उसका आधुनिकता का मानदण्ड भी व्यक्तिवादी प्रतीत होता है। शुद्ध साहित्य सदा आधुनिक रहता है। जो अपने युग से जीवन ग्रहण कर युग तक सीमित नहीं रहता, युग-युग तक जीवित रहता है। समीक्षा-जगत में प्रतिबद्धता का प्रश्न भी उठाया जाता है। आज का साहित्यकार किसी के प्रति प्रतिबद्ध नहीं होना चाहता। वह समाज का अंग है, उसकी विभिन्न स्थितियों में वह जीता है फिर भी वह उसके प्रति प्रतिबद्ध नहीं रहना चाहता। सम्भवतः उसे भय है कि प्रतिबद्ध होने से उसकी व्यक्तिगत स्वाधीनता का अपहरण हो जायगा, पर यह उसका भ्रम है और उसका चिन्तन उसे गलत दिशा की ओर ले जाने वाला है। साहित्यकार समाज का अंग होने के कारण उससे असम्पृक्त नहीं रह सकता। उसकी समस्त सामग्री उसी से प्राप्त होती है, उसी से उसका व्यक्तित्व भी निर्मित हुआ है। अतः साहित्यकार समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भुला नहीं सकता। नैराश्य और अभद्र भावों का दान अस्वास्थ्य का लक्षण है

और असामाजिक भी है, उससे उसे जीवन की दीर्घता प्राप्त नहीं हो सकती। क्षण-भोग का साहित्य क्षण का विलास मात्र बन सकता है, क्योंकि उसका स्रष्टा अपने क्षण के लिए ही तो प्रतिबद्ध है।

साहित्यकार सदा आत्मानुभव को, जिसे वह भोगी हुई जिन्दगी कहता है, व्यक्त नहीं करता। वह परकाया प्रवेश-योग को भी जानता है। निराला को विधवा के दुःख को अनुभव करने के लिए स्वयं विधवा नहीं बनना पड़ा और न तोड़ती पत्थर लिखने के लिए पत्थर तोड़ना पड़ा। संसार की सभी प्रसिद्ध रचनाओं में रचयिता की भोगी हुई जिन्दगी खोजना निष्फल प्रयास होगा। अद्यतन समीक्षा को चाहे जिस नाम से अभिहित किया जाय, उसमें समीक्षक की कृति के प्रति प्रतिक्रिया ही लक्षित होती है। कृतिकारों के दृष्टिकोण का अन्वेषण प्रायः नहीं होता। प्राचीन साहित्य को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में देखने की प्रवृत्ति में भी अधिकतर बौद्धिक विलास ही प्रतीत होता है।

साहित्य का माध्यम भाषा है, जो समय-समय पर परिवर्तित होती रहती है। कई बार एक ही भाषा के साहित्य में प्रयुक्त शब्द अर्थ परिवर्तन के कारण पाठकों को दुरूह प्रतीत होने लगते हैं। वह साहित्य के मर्म को ग्रहण नहीं कर पाता। साहित्यकार नूतनता का प्रेमी होता है। उसे शब्दों के प्रचलित अर्थ बासी जान पड़ते हैं। अतः वह अपने को व्यक्त करने के लिए शब्दों में नये अर्थ भरना चाहता है। अतीत के प्रयोग इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि आडन ने एक बार लिखा था, यदि कोई तरुण कवि यह पूछने पर कि तुम कविता क्यों लिखते हो यह कहता है कि मुझे बहुत महत्वपूर्ण बात प्रगट करनी है तो मैं समझ लूंगा कि वह कवि नहीं है। और यदि वह यह कहता है कि मैं शब्द क्या कहते हैं यह जानने को उत्सुक रहता हूँ तो मैं समझ लेता हूँ कि वह कवि बन रहा है। अत. हमें आधुनिक कवि के शब्दों में नूतन अर्थ भरने के उत्साह की सराहना करनी पड़ती है। आधुनिक कविता में क्रमशः लय के प्रति उपेक्षा चिन्तनीय है। यदि वह संगीत नहीं बनना चाहती तो उसे ठेठ गद्य भी नहीं बन जाना चाहिये। यह सत्य है कि अन्य भाषाओं की अद्यतन कविता गद्य के निकट पहुँच गयी है। पर हमें आधुनिक बन कर अपनी लय नहीं खो देनी चाहिए। क्योंकि हमारा विश्वास है कि उसके बिना कविता कालजयी नहीं बन पायेगी। कविता को आँखों को ही नहीं, कानों को सुख प्रदान करना चाहिये।

आज का कथा-साहित्य भी अति आधुनिकता के चक्र में फँस कर कई बार अस्वस्थ चित्र चित्रित करने लगा है। स्त्री पुरुषों के गुह्यांग वर्णन तथा उनके

क्रिया-कलाप के रसपूर्ण चित्रणों से कथाकार किस यथार्थबोध को प्रस्तुत करना चाहता है ? जीवन यौवनाचार के अतिरिक्त भी बहुत कुछ है, जिसका प्रस्तुतीकरण पाठक को आकर्षित कर सकता है। हिन्दी की स्वस्थ कहानी क्षणिक जीवन का प्रभावकारी चित्रण करती है, जो कथावस्तु के विकास की अन्तिम मंजिल जान पड़ती है। कभी-कभी उसके परिवेश चित्रण से ऐसा जान पड़ता है कि मानो वह रिपोर्ताज से स्पर्धा लेना चाहती हो। आधुनिक साहित्यकार की सौन्दर्य के प्रति क्या दृष्टि है ? ऐसा जान पड़ता है कि वह सुन्दर-असुन्दर की सीमा-रेखा लांघ चुका है। वास्तव में सौन्दर्य की न तो व्याख्या हो सकती है और न वह कभी सीमा में बांधा ही जा सकता है। सौन्दर्य को विषयगत मानना आलोचक-दृष्टि है और उसे विषयीगत मानना कवि-दृष्टि। रवीन्द्रनाथ ने एक स्थान पर कहा है—"जब मैं आकाश की ओर आँख उठाता हूँ तो पूर्व और पश्चिम दिशा आलोकित हो उठती है और जब मैं गुलाब की ओर देखता हूँ और कहता हूँ कि वह सुन्दर है तो वह सचमुच सुन्दर हो उठता है।" कविता के कोश में लोक-भाषा का असुन्दर शब्द नहीं है, क्योंकि कविता का क्षेत्र लौकिक नहीं है। अनुभूति को हम अखण्ड मानते हैं, इसीलिए भाव, भाषा में समान सौन्दर्य के दर्शन के अभिलाषी हैं।

साहित्य पर विहंगम चर्चा के साथ अन्वेषण पर भी दो शब्द अप्रासंगिक नहीं होंगे। अन्वेषण में सर्वथा सृष्टि नहीं होती। जहाँ नई सृष्टि होती है वहाँ अन्वेषण नहीं रहता। अन्वेषण उसी का हो सकता है, जो विद्यमान हो परन्तु अज्ञान के कारण अविद्यमान प्रतीत होता है।

'हिरण्यमयेन पात्रेण सत्सस्य अभिहितंमुखम्'—सत्य का मुख सोने के पात्र से ढँका हुआ है। सोना माया का प्रतीक है और माया ही अज्ञान है। हिन्दी में अन्वेषण कार्य विपुल मात्रा में हो रहा है, जो गुणात्मक दृष्टि से बहुत उत्साहवर्धक नहीं है। कुछ शोध प्रबन्ध ज्ञान की अभिवृद्धि मे निश्चय ही सहायक हुए हैं पर अधिकांश सग्रहात्मक हैं और शोध-प्रविधि के अज्ञान के कारण अस्त-व्यस्त भी हैं। फिर भी सन्त-साहित्य पर इधर अच्छा कार्य हुआ है, कई सन्तों का साहित्य, जो उपेक्षित पड़ा था, प्रकाश में आया है। कुछ विद्वानों का मत है कि सन्तों की वाणी को साहित्य कहना अनुचित है क्योंकि उनमें दार्शनिक विचार ही प्रधान हैं और उनकी अभिव्यक्ति साहित्य-परम्परा के अनुकूल नहीं है। यह सत्य है कि सन्त-वाणी उपदेशात्मक अधिक है पर उनमें भी, उदाहरणार्थ कबीर, सुन्दरदास, अक्षर अनन्य आदि सन्त ऐसे हैं जिनकी वाणियों में काव्य के लक्षण मिल जाते हैं। साहित्य को उसके युग की धारणा की कसौटी

पर कसना चाहिए। लोक-जागरण यदि उसका उद्देश्य माना जाय तो सन्तों ने यह कार्य किया है। यह भी सत्य है कि उनका मुख्य लक्ष्य आध्यात्मिक चेतना को जागृत कर जनता को मोक्ष या पराशक्ति के साक्षात्कार का मार्ग-दर्शन कराना था। क्योंकि उनमें से अधिक भलीभाँति साक्षर नहीं थे, साहित्य के अध्येता भी नहीं थे, अतः उनकी अभिव्यक्ति अवश्य अटपटी होती थी।

शोधार्थी आधुनिक साहित्य की विविध विधाओं पर तथा साहित्य स्रष्टाओं पर कार्य करना अधिक सहज समझते हैं। पर उनमें शोध का भाग कम, आलोचना का, वह भी प्रशंसात्मक आलोचना का, अधिक देखा गया है। शोधार्थी जीवित साहित्यकार से प्रत्यक्ष भेंट करता है और वह जो कुछ अपने सम्बन्ध में कहता है उसे 'प्रत्यक्ष प्रमाण' मानकर स्वीकार कर लेता है, उसकी छान-बीन की आवश्यकता नहीं समझता। उसे तो उपाधि लेना है, विवादी बनना नहीं है।

भाषा का भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी कार्य हुआ है और अधिकांश में सविधि हुआ है। ग्राम-शब्दावली पर भी अच्छे प्रबन्ध लिखे गये हैं। अहिन्दी-क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों में क्षेत्रीय तथा हिन्दी भाषा के साहित्य की विविध विधाओं पर तुलनात्मक कार्य हो रहा है। पर निर्धारित काल में दोनों भाषाओं के साहित्य को पृथक-पृथक अध्याओं में विवेचित कर देना तुलनात्मक अध्ययन की शर्त पूरी नहीं करता। वह दो भाषाओं के साहित्य का काल-सीमित इतिहास मात्र हो जाता है। तुलनात्मक अध्ययन में आलोच्य काल में दोनों भाषाओं की साहित्यिक प्रवृत्तियों की आलोचनात्मक तुलना और प्रतिनिधि साहित्यकारों के समान-असमान कृतित्व की तटस्थ विवेचना होनी चाहिए।

●●

सन्त-मत और साहित्य

सन्त शब्द की व्युत्पत्ति शोधियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है और उसके उल्लेख वेद, उपनिषदों, बौद्ध ग्रन्थों आदि में खोज निकाले हैं। और सभी सन्दर्भों में वह सत्य का उपासक अर्थित हुआ है। 'ऋत', जो पराशक्ति वाचक है 'सत्य' का ही रूप है। (ऋतंच सत्यम् —ऋग्वेद १०/१७०/१)। कालिदास ने उसका प्रयोग 'तत्वान्वेषी' के अर्थ में किया है।

'सन्तः परीक्ष्यान्तरद्भजन्ते, मूढ़ः परप्रत्ययनेय बुद्धिः'। तुलसीदास ने भी लगभग इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है—"सन्त हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार"। व्यापक अर्थ में 'सत्य' के अन्वेषी को 'सन्त' कहा गया है। सत्यान्वेषी स्वभावतः 'मूढ़' नहीं हो सकता—मोह-माया से आबद्ध नहीं रह सकता। कालानुसार यह शब्द भक्तिमार्गियों के लिए ही प्रयुक्त होने लगा है। हिन्दी साहित्य में यह और भी अर्थ संकुचित होकर निराकार निरगुनियों में सिमिट गया। डॉ० बड़थ्वाल ने निर्गुणी और सन्त को पर्याय माना है और उन सब साधकों को, जो साकार ब्रह्मोपासना से विरत हो दिल के आइने में ही अपने 'दिलदार की तस्वीर' देखते हैं, निर्गुणी सन्त से अभिहित किया है। हिन्दीतर साहित्य में 'सन्त' शब्द निर्गुणी-सगुणी दोनों प्रकार के ब्रह्मोपासकों के लिए प्रयुक्त होता है। लोक-व्यावहार में हिन्दी-क्षेत्रों में भी धर्मपरायण, लोकहितैषी आदि सात्विक स्वभाव सम्पन्न व्यक्ति को 'सन्त' कहने की परिपाटी है। जन सामान्य के लिए कबीर भी सन्त हैं, तुलसी भी सन्त हैं। पर साहित्येतिहास-कारों ने केवल निर्गुणोपासकों को ही 'सन्त' कहा है और सगुणियों को 'भक्त'। परन्तु इन दोनों का साध्य एक ही है—दोनों पराशक्ति का साक्षात्कार चाहते हैं पर साधन में भेद है। 'पराशक्ति' को अनेक नामों से अभिहित किया गया है। उनमें 'ब्रह्म' प्रमुख है। बादरायण के ब्रह्मसूत्र में 'ब्रह्म' को सृष्टि का मूल स्रोत कहा गया है। उसी से उसकी सृष्टि और पुष्टि होती है और अन्त में उसी में उसका लय हो जाता है। उसे 'आनन्दमय' कहा गया है। तैत्तिरी-योपनिषद में उसे केवल 'आनन्द' कहा गया है, क्योंकि शंका उठायी गयी थी

कि आनन्द के साथ मयट् प्रत्यय लगाने से विकार का भाव आ जाता है, परन्तु ब्रह्म विकारमय कैसे हो सकता है ? अत: उसे आनन्दमय नहीं कहा जा सकता। इस शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार ने कहा कि मयट् प्रत्यय से प्राचुर्य का अर्थ भी सूचित होता है। अत: जो अनन्द से परिपूर्ण है वही ब्रह्म है। वृहदारण्यक (४/८/६) में आत्मा को आनन्द का स्रोत कहा गया है। इसीलिए आत्मा ही दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन के योग्य है। क्योंकि आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है, इसीलिए हमारे ऋषियों ने उपदेश दिया है—'आत्मानं विद्धि' (आत्मा को पहचानो)। उपनिषदकार ब्रह्म के अमूर्त और मूर्त दोनों रूपों का वर्णन कर उसे इन दोनों से परे कहते हैं। केन उपनिषद् में उसे इन्द्रियों की पहुँच के परे कहा है। सन्त भी ब्रह्म को व्यापक स्वीकारते हैं और उसे उपनिषदकार के समान ही मूर्त-अमूर्त से परे मानते हैं। अत: हमें ब्रह्मवादी आचार्यों के ब्रह्म सम्बन्धी मतों को जान लेना चाहिए। ब्रह्मवादी, वादरायण के सामान ही विश्वास करतेहैं कि ब्रह्म का ज्ञान श्रुति-स्मृतियों के आधार पर ही हो सकता है—स्वतन्त्र तर्क से नहीं। अत: वे शब्द-प्रमाण (आत्मवचन) को ही एकमात्र प्रमाण मानते हैं। सन्त प्रत्यक्ष प्रमाण को मानते हैं। 'आँखिन की देखी' पर उनकी आस्था है—कागद की लेखी पर नहीं।

शंकराचार्य अद्वैतमत के प्रबल उद्घोषक हैं। उनके मत से ब्रह्म शुद्ध सत्तामय (सत् और चित्, चेतनामय) और निर्विकार है। फिर भी वह अपने को नाना रूपों में अभिव्यक्त करता है। आचार्य ने ब्रह्म का तात्विक तथा व्यावहारिक पक्ष से विचार किया है। तात्विक दृष्टि से जगत मायामय है पर व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है। अत: इस रूप में उसे ईश्वर या सगुण ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म, ईश्वर और माया पृथक्-पृथक् नहीं हैं। माया ब्रह्म की शक्ति है और ईश्वर ब्रह्म का पर्याय है । प्राचीन ऋषि एक ही तत्व को भिन्न-भिन्न नामों से ख्यात करते रहे हैं। विष्णु, सहस्रनाम इसका उदाहरण है। निर्विशेष ब्रह्म सत्य और अनन्त अनित्य है। सविशेष ब्रह्म सगुण भाव धारण कर उपास्य बनता है। मुंडकोपनिषद् में उसका इस प्रकार रूपोन्यास किया गया है—'अग्नि उसका शीर्ष है—चन्द्र-सूर्य चक्षु हैं, दिशाएँ उनके कान हैं, वेद उसकी वाणी है, वायु उसका प्राण है और यह विश्व उसका हृदय है। उसके दो चरणों से पृथ्वी निकली है। वह सब प्राणियों का अन्तरात्मा है।" (२/७/८) **रामानुज निर्गुण ब्रह्म की कल्पना नहीं करते, वे सगुण ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि जगत के समस्त पदार्थ गुण सहित ही होते हैं।** निर्विकल्प प्रत्यय में भी सविशेष (गुण) की प्रीति ही प्रतीत होती है। (निर्विकल्प प्रत्ययेऽपिसविशेषमेव वस्तु

प्रतीयते ।) वे ब्रह्म को ही ईश्वर मानते हैं । जीव और जगत को उससे भिन्न मानते हैं । अग्नि और चिनगारी के समान जीव ब्रह्म का अंश है । इसी भाव को नन्ददास ने 'वा गुण की परछाय हो माया दर्पण बीच' कहकर स्पष्ट किया है । वे और भी स्पष्ट करते हैं, 'जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ तें । बिना बीज तरू जमें कहाँ तें ?'

रामानुज, चित्त, अचित्त, और ईश्वर नामक तीन तत्व मानते हैं । चित्त जीव, अचित्त सृष्टि और ईश्वर अन्तर्यामी तत्व है, जो चित्त-अचित्त में समाया हुआ है । उसका दर्शन न्यास-विद्या (प्रपत्तिमार्ग) से ही सम्भव है ।

उपनिषदों की भाषा में अद्वैत विशिष्टाद्वैत, भेदाभेद, द्वैत और विशुद्धाद्वैत मतों को खोजा जा सकता है और खोजा गया है । वादरायण ने अपने ब्रह्म सूत्रों में उनके विचारों को सकलित कर उनमें तारतम्य स्थापित करने का उद्योग किया है, परन्तु उनके सूत्र इतने गूढ़ार्थ संकुल हैं कि उन पर लिखित विविध भाष्यों से भी उन्हें समझने में कठिनाई अनुभव होती है । वेदान्त मत के तीन आकर-ग्रन्थ हैं—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता, जो प्रस्थानत्रयी कहलाते हैं । श्री वल्लभाचार्य ने श्रीमद्भागवत को भी प्रमाण रूप में स्वीकार कर लिया है । अतः ये चारों ग्रन्थ 'प्रमाण चतुष्टय' कहलाते हैं । वेदान्ताचार्यों ने इन ग्रन्थों पर भाष्य लिखकर अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है । शंकर ने अद्वैत सिद्धान्त, रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत, श्री निम्बार्क ने भेदाभेद, मध्वाचार्य ने द्वैत और वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत की सिद्धि की और चैतन्य ने अचिन्त्य भेदाभेद सिद्धान्त को निरूपित किया ।

रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत मत के अन्तगत और भी सम्प्रदाय प्रचारित हुए । उनमें रामानन्द द्वारा प्रवर्तित रामानन्द सम्प्रदाय का विशेष महत्व है । इनमें राम को ब्रह्मरूप में स्वीकार किया गया और उसे ही सर्जक, रक्षक और संहारक माना गया । राम निर्गुण-सगुण दोनों रूपों में सर्वव्यापी हैं । **रामानन्द ने 'राम' को तारकमंत्र मान कर उसका अपने भक्तों में प्रचार किया** । कबीर ने रामानन्द का शिष्यत्व ग्रहण कर इसे अपना लिया उनके अनुयायियों ने भी इसी का स्मरण-मनन करने का उपदेश दिया । **यह मंत्र ऐसा है जो निर्गुणी और सगुणी—दोनों पंथों के भक्तों को मान्य हुआ ।**

सन्तमत पर चूंकि अपने समकालीन दार्शनिक मतों का प्रभाव पड़ा है, इसलिए उन पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है । आचार्य निम्बकाचार्य ने अपने भेदाभेद सिद्धान्त के अन्तर्गत पुरुषोत्तम कृष्ण को ही ब्रह्म माना और राधा की उनकी नित्यवसिनी वामांगी के रूप में कल्पना की । उनके मत

से ब्रह्म विश्व की आत्मा है, वही प्रकृति का उपादान कारण और निमित्त कारण भी है। इसीलिए भिन्न-अभिन्न है। यह जगत् ब्रह्म की अपेक्षा स्थूल अनुभव योग्य है, उसकी साकार अभिव्यक्ति है। जगत् के तीन उपादान कारण हैं—(१) चैतन्य, (२) गति या शक्ति, (३) जड़। जड़ गति की परिणति है और चैतन्य शक्ति या गति का रूपान्तर। आज के वैज्ञानिक भी सिद्ध कर चुके हैं कि जड़ गति की परिणति है। अतः चेतन का रूपान्तर गति है, इसे मानने में भी सम्भवतः भविष्य के विज्ञानवेत्ता को आपत्ति न होगी।

निम्बार्क ब्रह्म और जगत् का आत्यन्तिक ऐक्य स्वीकार नहीं करते। उनके मत से अहिलकुलवत भेद और अभेद दोनों ही सत्य हैं। जगत् और जीव ब्रह्म के अंश मात्र हैं इसलिए अंश और अंशी में भेदाभेद सम्बन्ध है। आनन्दमय ब्रह्म का अन्तःकरण में स्फुरण उसका परम साध्य है। प्रपत्तिभाव की इस मत में मान्यता है।

माध्वाचार्य जीव-जड़ प्रकृति और ब्रह्म में सम्पूर्ण और सतत भेद मानते हैं, इसीलिए उनका सिद्धान्त द्वैतमत कहलाता है। उनके मत से हरि ही परमोच्च हैं, जगत् सत्य है पर इनमें हरि ही भेद तात्विक है। निर्मल भक्ति से निज-सुखानुभूति रूपी मुक्ति सम्भव है।

वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैत मत के प्रचारक हैं, उनके मत से ब्रह्मात्मा से अलिप्त होने के कारण शुद्ध है। शुद्ध ब्रह्म ही अद्वैत भाव है। जीव और जगत् ब्रह्म है। शंकराचार्य ब्रह्म की शक्ति माया से जगत् की सृष्टि निरूपित करते हैं, जो वल्लभाचार्य को मान्य नहीं है। वे ब्रह्म को स्वयं जगत् सृष्टा मानते हैं। ब्रह्म के समान जगत् भी सत्य और शाश्वत है। ब्रह्म रूप ही है। भक्ति की साधना से ही आध्यात्मिक सुखानुभूति और मोक्ष प्राप्त होता है। उन्होंने पुष्टि भक्ति को, जो आत्मार्पणभाव है और प्रीतिमय है—परमानन्ददायिनी माना है।

चैतन्य के अचिन्त्य भेदाभेद सिद्धान्त में श्रीकृष्ण को साक्षात् भगवान् माना गया है और जगत् की सत्य अचिन्त्य शक्ति के कारण भगवान् के साथ न तो यह संसार सर्वथा भिन्न ही है और न अभिन्न ही है। भक्ति ही भगवान् को प्राप्त करने का श्रेष्ठ साधन है। इसमें भगवत् प्रमाण है। प्रेमाभक्ति ही मनुष्य का परम लक्ष्य है। इस मत से प्रभावित उड़ीसा में प्रचलित पंचसखा मत है (बलराम दास, अनन्तदास, यशोवन्त दास, जगन्नाथदास और अच्युतानन्ददास हैं)। ये वर्ण-व्यवस्था

विरोधी हैं। निर्गुणियों के समान बाह्याचारों को महत्व नहीं देते। इनकी वाणियों में सगुण-निर्गुण दोनों भावनाओं का उन्मेष है; जो प्रायः सभी भक्तों की सामान्य अनुभूति है। ये पंचसखा यद्यपि वैष्णव सन्त माने जाते हैं पर नागेन्द्रनाथ वसु का मत है कि बौद्धों के महायान सम्प्रदाय 'शून्यवाद' के ये सच्चे और कट्टर उन्नायक हैं। उनका मत है कि यह वैष्णव धर्म की आड़ में महायान के सिद्धान्तों के प्रचारक हैं। पर उनके मत में 'शून्य' की स्तुति होते हुए भी भक्ति का भाव निस्सन्देह विद्यमान है—जो निर्गुणियों की परम्परा के अनुरूप है।

शंकरदेव-मत

चैतन्यदेव के समकालीन असम सन्त श्री शंकरदेव ने वैष्णवभक्ति की एक अभिनव धारा प्रवाहित की। उन्होंने राधाकृष्ण की स्थूल भक्ति के स्थान पर केन्द्रीय धर्म संस्थान के अन्तर्गत असम के ग्राम-ग्राम में नामघरों की स्थापना की और उनमें नवधाभक्ति के स्थान पर केवल दास्य भक्ति को महत्व दे उसी का नाम संकीर्तन पद्धति से प्रचार किया। उन्होंने कीर्तन-घोष, भक्तिरत्नाकर आदि ग्रन्थों में अपने मत का प्रतिपादन किया है। उनके शिष्य माधवदेव का 'नामघोष' ग्रन्थ श्री शंकरदेव के मत की भलीभाँति व्याख्या करता है। इस मत में सन्त (भक्त) निर्गुण 'हरी' का गुणगान कर आनन्दित होता है।

भारत का सन्तमत कई रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। शैवमत भी उनमें एक है। पाश्चात्य विचारकों के मत से ईसा के लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व से भारत में धार्मिक इतिहास का स्रोत खोजा जा सकता है। आर्यों के आगमन का समय निश्चित न होने पर भी मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन से प्राप्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि शिव की उपासना अति प्राचीन है। यदि शिव को हम अनार्य देवता भी मान लें तब भी यह निश्चित है कि आर्यों के अनेक देवता 'शिव' के विरोध में नहीं खड़े हुए, प्रत्युत उन्हें अपने परिवार में ही सम्मिलित कर प्रसन्न हुए। उनकी मुसकुराहट से उनमें हृदयोल्लास संचारित हुआ और उनकी भृकुटि से उनकी सृष्टि कम्पित हो उठी। सृष्टि के सर्जक, रक्षक और विनाशक—ये तीनों रूप उनके मान्य हुए, आर्यों के पूजाग्रन्थों में 'शिव-रुद्र' की वन्दना है। जब हमने उत्तर वैष्णव मतों की चर्चा की है, तब हम दक्षिण से भक्तिधारा के साथ जिस मत की हिलोर उठी है उसका सक्षिप्त परिचय देना उचित समझते हैं। शिव की महिमा से मंडित जो दर्शन सृष्ट हुए वे हैं—(१) संस्कृत शैव सिद्धान्त, (२) तमिश्र शैव सिद्धान्त, (३) काश्मीरी शैव सिद्धान्त,

और (४) वीर शैव सिद्धान्त। तमिश्र और वीर शैव सिद्धान्त सहज भक्ति के उन्नायक हैं। इनमें सभी जातियों और स्त्री-पुरुषों का प्रवेश स्वीकार्य है। इन सम्प्रदायों का साध्य शिव की तादात्म्यता की उपलब्धि है। आत्मा को अनादि माना गया है, और शिव के अनुग्रह से वह स्वलक्ष्य को प्राप्त होती है। कश्मीर का शैव-आगम प्रत्यभिज्ञा दर्शन कहलाता है। इसमें पशु, पति और पाश तीन पदार्थ हैं। वसुगुप्त इसके मुख्य प्रदर्शक हैं। प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है ज्ञात वस्तु को पुनः जानना। इसमें परमेश्वर ही एक तत्व है, वही जगत् में विभिन्न लीलाएँ करता है। परमेश्वर और जगत का सम्बन्ध दर्पण और बिम्बवत् है पर परमेश्वर जब विश्व-रचना की इच्छा करता है तब वह शिव और शक्ति रूप हो जाता है। शक्ति के बिना शिव कुछ नहीं है। शक्तिपात से ही (शिवानुग्रह से) जीव भवजाल से मुक्त हो जाता है।

वीर शैवमत

यह विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों से प्रभावित है। वासवेश्वर इसके प्रमुख प्रचारक हैं। इसमें शिव का प्रतीक 'लिंग' पूज्य है। इसके भावलिंग, प्राणलिंग और इष्टलिंग— तीन प्रकार हैं, जो सत्, चित और आनन्द के प्रतीक हैं। **शिव को प्राप्त करने के लिए ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों मार्ग इस मत में मान्य हैं। इसमें वर्ण-व्यवस्था, तीर्थ, व्रत आदि बाह्योपचारों का महत्व नहीं** है। विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार इसमें शिवमय जगत् को सत्य माना गया है। यह सुधारवादी मत है, जो १८वीं शताब्दी में कन्नड़ प्रान्त में प्रचलित हुआ। यह तमिश्र मत का ही एक अंग है। **इसमें शिव वैष्णवमत के ईश्वर का पर्याय है।** जीव और शिव पृथक्-पृथक् होते हुए भी साधना की समाप्ति पर 'एक' हो जाते हैं। यद्यपि शिव द्राविड़ों के देवता माने जाते हैं, पर यजुर्वेद में 'नमोनील ग्रीवाय च शितिकण्ठाय च' कहकर उनकी स्तुति की गयी है— वे शान्त और निर्विकार भी कहे गये हैं। 'शिव पुराण' में उन्हें सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण कहा गया है। जो हो शिव द्राविड़ और आर्य संस्कृति में इतने घुलमिल गये हैं कि यह कहना कठिन है, कि वे कहाँ से, कब से, कैसे एक-दूसरे में संचारित हो गये।

सन्त-वाणियों में **योग-साधना** की क्रियाओं का बार-बार उल्लेख हुआ है। योग-मार्ग का प्रारम्भ कब से हुआ, यह कहना भी कठिन है। गोरखनाथ को उसका प्रचारक कहा गया है, पर उनका समय भी अनिश्चित है। यह १०वीं और १२वीं शती के मध्य अनुमाना गया है; उनका जन्म-स्थान भी भारत की

प्रत्येक दिशा में खोजा गया है, पर उनकी वाणियों की भाषा से (जिनकी प्रामाणिकता संदिग्ध ही है फिर भी कुछ शब्द उनके कल्पित किये ही जा सकते हैं) उन्हें उत्तर भारतीय मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। परन्तु उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार गोरख के पूर्व से 'योग' का प्रचार हमारे देश में रहा है। 'ऋग्संहिता' में प्राणविद्या का उल्लेख है और उसकी उपासना अनेक प्रकार से बतलायी गयी है। छान्दोग्योपनिषद् आदि उपनिषदों में भी योग-पद्धति के संकेत हैं। 'गीता' के कृष्ण तो 'योगेश्वर' कहे ही गये हैं। उसमें 'योग' के विभिन्न रूपों का विवेचन है। नाथों के अतिरिक्त सिद्धों के ग्रन्थों में भी अष्टांग योग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन है। पतंजलि के १९५ योग-सूत्र चार पदों में विभक्त हैं, समाधिपाद, साधनापाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद। इनमें योग की कई प्रकार से व्याख्या की गयी है। योगसूत्रकार चित्तवृत्ति-निरोध को योग कहते हैं। योग-दर्शन में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गयी है। उसमें चित्त को केन्द्रित करने का विधान है। ईश्वर जो 'शिव' ही हैं—योगियों के आदि गुरु हैं। वे उन्हें तारक-ज्ञान देने की क्षमता रखते हैं। इसका पारमार्थिक पक्ष सांख्य के समान है। उसमें ईश्वरतत्व अतिरिक्त है।

'बुद्ध' के निर्वाण के पश्चात् उनके अनुयायी दो दल में विभक्त हो गये। एक दल बुद्ध की 'मध्यमा प्रतिपदा' नीति का अनुयायी तथा प्राचीन 'विनयों' के अनुरूप आचरण करने वाला था याने स्थविरवादी और दूसरा दल युगानुरूप अपने आचरण को ढालने का पक्षपाती याने संशोधनवादी था। पहले दल के मत को महायानियों ने रूढ़िग्रस्त मान कर 'हीनयान' घोषित किया और अपने दल के मत को प्रगतिशील होने के कारण 'महायान' कहना प्रारम्भ कर दिया। महायान भी उपशाखाओं में विभक्त हो गया—जो सहजयान, वज्रयान, मन्त्रयान आदि नामों से अभिहित किये गये। महायान वैपुल्य वादी बौद्धमत का विकसित रूप है। नागार्जुन को वैपुल्यवाद का प्रचारक माना जाता है। इस 'वाद' में स्वेच्छाचारिता को सहज माना गया। अवस्था विशेष में 'मैथुन' का आचरण वैध माना गया; हीनयानी श्रावक-बोधि के आदर्श को मानने वाले थे। महायान के तीन मुख्य सिद्धान्तों में 'सम्भोगकाम' एक सिद्धान्त है। हीनयान व्यक्ति-निर्वाण पर केन्द्रित रहता है। महायान समष्टि-निर्वाण पर बल देता है। वह महामैत्री और महाकरुणा में आस्था रखता है। याने जब तक संसार का प्रत्येक प्राणी मुक्त नहीं हो जाता तब तक वह अपनी मुक्ति नहीं चाहता। महायान हीनयान के समान निरीश्वरवादी निवृत्तिवादी न

होकर ईश्वरवादी और प्रवृत्तिवादी बना। बुद्ध को उसने 'भगवान्' बना दिया। इस तरह उसमें भक्ति का तत्व सम्मिलित हो गया। हीनयान के शुष्क ज्ञान से सामान्य जनता की तुष्टि सम्भव नहीं थी। महायान में तन्त्र-मन्त्र का भी प्रवेश हो गया। नागार्जुन तान्त्रिक भी थे। अतः गुह्य साधना का श्रीगणेश इन्हीं के उपदेशों से हुआ। मयायान की एक शाखा मन्त्रयान भी स्थापित हुई, जो वज्रयान में विकसित हो गयी, जिसमें मद्य, मांस, मत्स्य, मैथुन आदि का क्रमशः प्रचार हुआ। वज्रयान ही सहजयान में परिवर्तित हो गया, जिसमें सहजजीवन पर बल दिया गया—नीति-अनीति, भक्ष्याभक्ष्य आदि नियमों की जड़ता समाप्त कर दी गयी। वज्रयानी या सहजयानी साधक सिद्ध कहलाते थे जिनमें ८४ सिद्ध प्रधान माने गये। सहजियों के स्वच्छन्द संयमहीन आचार की प्रतिक्रिया गोरखनाथ जैसे सिद्धों में हुई और वे उससे पृथक् हो गये और उन्होंने पवित्रतावादी जीवन पर बल देना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने अष्टांग योग को अपनाकर उसका प्रचार किया। अष्टांग योग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का समावेश है।

सन्तों ने योग से निर्गुण साधना की प्रेरणा ग्रहण की; जीवन को संयमी बना आत्मदर्शन तथा लोककल्याण उनका ध्येय हो गया। यद्यपि सन्तों ने योग का साधना-पथ स्वीकार कर लिया था, पर वह शुष्क ज्ञान का मार्ग था। इससे मन, जो स्वभावतः प्रवृत्तिमार्गी है, आह्लादित नहीं रह सकता था। इसी बीच जब दक्षिण से आलवार सन्तों की नाम-संकीर्तन भाव-धारा का उत्तर की ओर प्रवाह बढ़ा तो सन्त उसमें भीग उठे। महाराष्ट्र में वारकरी सन्त ज्ञानेश्वर जिनके गुरु नाथपन्थी थे और नामदेव, जिनके गुरु भी नाथपन्थी विसोबा खेचर थे, भक्ति-रस में आर्द्र हो उठे और इस प्रकार उन्होंने निर्गुण भक्ति का महाराष्ट्र में व्यापक प्रचार किया। पंढरपुर के (विष्णु रूप) विट्ठल उनके आराध्य थे। नामदेव नाथों के सम्पर्क में आने के पूर्व पंढरपुर में स्थित विट्ठल की प्रतिमा के ही पूजक थे। नाथ-गुरु की दीक्षा के बाद वे अपने विट्ठल को पंढरपुर की प्रतिमा में ही नहीं, सारे विश्व में देखने-अनुभव करने लगे।

"ई मैं वीठल ऊ मैं वीठल, वीठल बिनु संसार नहीं"

गीत उनके कंठ से गूंजने लगा।

सन्तमत पर सूफीमत के प्रभाव की भी चर्चा की जाती है। यह सर्वांश में ठीक नहीं है। उत्तर भारत में नामदेव और कबीर के पूर्व सूफियों का आगमन हो गया था, पर दक्षिण में बहुत बाद में उनका प्रवेश हुआ। अतः प्रारम्भ में

वे सन्तों पर अपना प्रभाव नहीं डाल सके । १८वीं शताब्दी में दक्षिण में मराठ-वाड़ा क्षेत्र के कुछ नाथपन्थी सन्तों ने सूफियों के तर्ज पर पद-रचना प्रारम्भ कर दी थी यथा 'माशूक अपना मुखड़ा दिखाव ।'

सूफी सौन्दर्य और प्रेमवादी मत है । साधक उस परम सौन्दर्य को, जो संसार में बिखरा हुआ है, पाने को व्याकुल रहता है । उसे पाने की सात मंजिलें हैं । (१) उबूदियत—इसमें साधक अपने हृदय को पवित्र करता है । (२) फिर इश्क उसके हृदय में उदित होता है । (३) जुहद की अवस्था में सांसारिक इच्छाओं का अवसान हो जाता है । (४) मारिफ्त में साधक, परमात्मा के गुण, स्वभाव और कर्म का ध्यान करता है । (५) वजद (भावाविष्टावस्था) में परमात्मा का ध्यान करते-करते साधक में भावाविष्ट की अवस्था आ जाती है । (६) हकीकत में साधक को साधक के वास्तविक रूप का भान हो जाता है । (७) वस्ल में साधक परमात्मा का साक्षात्कार करता है ।

सूफियों की ये अवस्थाएँ अष्टांगयोग के लगभग समान हैं । पहली अवस्था में यम-नियम, तीसरी अवस्था में प्रत्याहार, चौथी में धारणा, पाँचवीं में ध्यान, छठी अवस्था में समाधि की सम्प्रज्ञात अवस्था और सातवीं अवस्था में उसकी असंप्रज्ञातावस्था का भाव निहित है ।

गुरु-महिमा नाथ और सूफीमत में समान है । यों गुरु-महिमा भारतीय साधना का प्रारम्भ से ही मूल रहा है । गुरु को साक्षात परमेश्वर मानने की अतिप्राचीन परिपाटी है, जो सन्तों में सहज ही मान्य हो गयी । अतः सूफीमत का सन्तों पर प्रत्यक्ष प्रभाव खोजना उचित नहीं है । इसके विपरीत सूफीमत पर भारतीय दर्शन और साधना का प्रभाव ही अनुसन्धानेय है । ब्रह्म की सर्वव्यापकता पर, जिसे सूफी स्वीकारते हैं, भारतीय अद्वैतदर्शन का प्रभाव स्पष्ट है । सूफी जब भारत में आये तब उनका नाथ योगियों से सर्वप्रथम सम्पर्क हुआ । उनसे उनके वाद-विवाद के कई प्रसंग ग्रन्थों में उल्लिखित हैं । कई सूफियों ने नाथ योगियों का शिष्यत्व भी स्वीकार किया था । बाबा फरीद के स्थान पर नाथ योगियों का आना-जाना होता था । शेख निजामुद्दीन औलिया योगियों से प्रभावित थे । उन्होंने साधना में दम (प्राणायाम) के नियन्त्रण पर बल दिया था क्योंकि इसके बिना साधना में बाधा पड़ती है (देखिए.........पृष्ठ ५६-६०) । **सूफी साधकों के माध्यम से सन्तों पर प्रभाव पड़ने** की बात इसलिए की जाती है कि सन्तों में प्रेम का भाव है, पर यह प्रेम-भाव सूफियों के समान नहीं है, सूफी परमात्मा को माशूका और आत्मा को आशिक की दृष्टि से देखत हैं । सन्तो ने विपरीत भाव-भूमि में प्रवेश किया है—वे अपने को (आत्मा को)

प्रेयसी और परमात्मा को प्रिय रूप में स्वीकारते हैं, अपवाद हैं १८वीं शती के मराठवाड़ा क्षेत्रीय कतिपय सन्त।

डॉ० बड़थ्वाल ने सन्तों पर वैष्णव और नाथमत का प्रभाव माना है, जो मान्य हो सकता है, पर यह प्रभाव दर्शनों के अध्ययन का परिणाम नहीं है क्योंकि अनेक सन्त शास्त्र के अध्येता नहीं रहे, उनका समाज की निम्नश्रेणी में जन्म हुआ था। उनकी वाणियों में गुरु-माहात्म्य, नाम-स्मरण, शून्य, सहज, नाद, बिन्दु कुण्डलिनी, सूर्य, चन्द्र, सुरति-निरति शब्दों का प्रयोग और रूपक देखकर ही उक्त दर्शनों का प्रभाव अनुमाना गया है। पर हमारा मत है कि सन्तों ने लोक और साधु-समाज में प्रचलित इन शब्दों को सहज ही ग्रहण कर लिया है जिनका कई बार शास्त्रीय अर्थ से मेल नहीं खाता, उन्होंने प्रसंगानुसार एक ही शब्द में एकाधिक अर्थ भी भर दिये हैं।

सन्तों पर तान्त्रिक साधना का प्रभाव भी कहा गया है जिसमें एक कौल-साधना भी है।

कौल-साधना

यह तान्त्रिक साधना है। गोरख सम्प्रदायी कौलों और अपने में साध्य का नहीं, साधना का भेद मानते हैं। "योगी पहले से ही अन्तरंग उपासना करने लगता है परन्तु तान्त्रिक पहले बहिरंग उपासना करने के बाद अन्तरंग (कुण्डलिनी) साधना की ओर आता है।" (हजारी प्रसाद)। **'कौल ज्ञान निर्वाण में' विष्ठा, धारामृत, शुक्र, रक्त और मज्जा**—ये पाँच वस्तुएँ **पवित्र मानी गयी हैं।** साधक की साधना में ये विहित हैं। **कौलमार्गी, जिसे अद्वैतावस्था प्राप्त हो गयी है, किसी भी बात में भेद नहीं मानता**—भक्ष्याभक्ष्य, नीति-अनीति उसके लिए सब समान है। पर योगी का आचार-धर्म नैतिक है। वह भक्ष्याभक्ष्य, नीति-अनीति में भेद मानता है; वह ब्रह्मचर्य और नियम-संयम पर भी बल देता है। **सन्त योग-साधना में आस्था रखते हैं, कौल-साधना में बिलकुल नहीं।**

डॉ० बड़थ्वाल ने सन्तों पर निरंजनमत का प्रभाव भी कहा है।

इस मत के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी नहीं है। कहा जाता है, यह आदिवासियों में उड़ीसा की ओर प्राचलित था, धीरे-धीरे पूर्व और उत्तर में राजपुताना और पंजाब में भी हुआ। इसके प्रवर्तक निरंजन स्वामी बताये जाते हैं। यह निर्गुण विचारधारा का पोषक मत अवश्य है पर इसका सन्तमत पर प्रभाव पड़ा है, इसका प्रमाण नहीं मिलता। 'निरंजन' शब्द का उनके पदों में

प्रयोग अवश्य हुआ है। इसका यहाँ उल्लेख इसलिए किया गया है कि डॉ० बड़थ्वाल ने इसे 'नाथ और सन्त-मत के बीच की कड़ी कहा है'।

सन्त-मत का प्रारम्भ

सन्तमत का प्रारम्भिक इतिहास खोजना आसान नहीं है। उसके तत्व जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वैदिक उपनिषद् काल से खोजे गये हैं। निर्गुण भाव जब तक रागात्मक नहीं होता तब तक वह 'भक्ति' का आधार नहीं बन सकता। मध्यकाल में उसके उन्नायक दक्षिण के आलवार भक्त कहे गये हैं। कहा भी है :—

'भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाए रामानन्द'

दक्षिण से निर्गुण भक्ति महाराष्ट्र में पहुँची, जहाँ विष्णु स्वामी ने उसका प्रचार किया। विष्णु स्वामी कृष्णोपासक थे। १३वीं शताब्दी में महाराष्ट्र में महानुभाव-पन्थ चक्रधर स्वामी द्वारा प्रवर्तित हुआ, जो कृष्ण के अवतार माने जाते हैं। यह 'पन्थ' गुह्य साधना के कारण महाराष्ट्र में बहुत काल तक अप्रिय रहा। पेशवाओं ने तो महानुभावों पर तरह-तरह की पाबन्दियाँ लगा दी थीं। जनता को इनसे दूर रहने का आदेश जारी कर दिया था। यह ज्ञानमार्गी पन्थ है। महाराष्ट्र में वारकरी सम्प्रदाय अधिक लोकप्रिय हुआ जिसके शीर्ष सन्त ज्ञानेश्वर और नामदेव थे। यह समन्वयवादी सम्प्रदाय था। सभी मतों का सार इसमें निहित है। पढरपुर की विट्ठल पूजा, जो कृष्ण की ही पूजा है, का बड़ा महत्व है। वारकरी पंढरपुर की 'वारी' (यात्रा) करता है इसलिए इस मत को वारकरी मत कहा गया है जो परमात्मा के सगुण-निर्गुण दोनों रूपों को मानता है। तुकाराम कहते हैं :—'भक्ति से ज्ञान का जन्म हुआ है। भक्ति मूल है, वैराग्य उसका फूल और ज्ञान फल है। जिस प्रकार तारों के विना वीणा का उपयोग सम्भव नहीं उसी प्रकार भक्ति विरहित ज्ञान व्यर्थ है।'

महाराष्ट्र में दत्त-पन्थ का भी प्रचार है। यह भी सिद्धान्ततः अद्वैतमत को स्वीकार करता है। ब्रह्म की इच्छा-शक्ति ही प्रपंच है और जीव ही मूलरूप में ब्रह्म है। इस सम्प्रदाय में शिव का भी समावेश है, जो सम्भवतः वैष्णवों और शैवों का संघर्ष मिटाने की दृष्टि से किया गया है। दत्तात्रय की त्रिमूर्ति समन्वय-भाव का प्रतीक है।

समर्थ सम्प्रदाय

१७वीं शताब्दी में समर्थ रामदास ने इसे प्रवर्तित किया। यह सिद्धान्त भी अद्वैतमतावलम्बी है, पर व्यवहार पक्ष में राम नाम को महत्व देता है।

तात्विक दृष्टि से वारकरी और समर्थ मतों में भेद नहीं है। वारकरी सन्त एकनाथ तुलसी के समकालीन थे। उन्होंने रामचरित लिखा। तुलसी के ही समकालीन सन्त जन जसवन्त थे, जिन्होंने काशी की यात्रा की और उनसे गुरु-मन्त्र लिया। तुलसी के शिष्य दक्षिण में उनके ही जीवन-काल में दीक्षित हो चुके थे और राम और हनुमान के उपासक बन गये थे। समर्थ ने महाराष्ट्र में राम और मारुति मन्दिर की स्थापना युगीन आश्वयकता-नुसार की।

उत्तर भारत में सन्त-मत को प्रवर्तित करने का श्रेय नामदेव को है और प्रचारित करने का कबीर को है। नामदेव ने पंजाब के घोमान नामक स्थान तक यात्रा की और निर्गुण भक्ति का जयघोष किया। कबीर ने उनका ऋण बार-बार उनको सादर स्मरण कर स्वीकार किया है।

सन्त-मत जैसा कि कहा गया है कि बौद्ध, सिद्ध और नाथ-सिद्धों से अत्य-धिक प्रभावित है। बुद्ध के निर्वाण प्राप्त होने पर, जैसा पहले कहा गया है, बौद्ध-मत हीनयान और महायान में परिवर्तित हो गया। महायान-शाखा भारतीय लोकजीवन की ओर अधिकाधिक अभिमुख हुई और उसमें जो रूढ़ियाँ थीं वे उसमें समाविष्ट हो गयीं। इसकी दो शाखाएँ हो गयीं—एक के प्रवर्तक शून्य-वादी नागार्जुन थे। उन्होंने 'शून्य' की व्याख्या करते हुए कहा कि 'इसे शून्य भी नहीं कह सकते, अशून्य भी नहीं कह सकते और दोनों (शून्याशून्य) भी नहीं कह सकते।' इस प्रकार का सिद्धान्त **बहुत कुछ अनिर्वचनीयता का रूप धारण कर लेता** है (हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ १)। **दूसरी शाखा 'सहजयान'** थी, जिसमें **शून्य का अर्थ 'सहज' लगाया गया** और जीवन को सहज रहनी में ढालने पर बल दिया गया। महामहोपाध्याय हरि-प्रसाद शास्त्री ने अपनी नेपाल यात्रा में जो दोहे और चर्चा पद प्राप्त किये थे उनका संग्रह उन्होंने 'बौद्ध-गान ओ दोहा' में प्रकाशित किया है। **सहजियासिद्धों** ने सामाजिक रूढ़ियों को, जिनमें उपासना, व्रत, तीर्थाटन, यज्ञादि की प्रधानता थी, तिरस्कार की दृष्टि से देखा, उन्हें स्थविर हीनयानियों के अचार-धर्म रूढ़ प्रतीत हुए। अतः उन्होंने सहजाचार को स्वीकार किया और मानुषधर्म की प्रतिष्ठा की। उन्होंने नीच समझी जाने वाली जातियों को अपनाया, उनकी स्त्रियों को अपनी निर्वाण-साधना का माध्यम बनाया। सहजयान काया-साधना को प्रमुखता देता है। शरीर से बाहर कुछ नहीं है। सरहपा कहते हैं—

एत्थु से सुरसरि जपुस, एत्थु से गंगा साजस,
एत्थु पआग बयारसि, एत्थु से चन्द दिवावस।
खेत्तु पीठ-उपपीठ, एत्थ महँ भमइ परिट्ठओ।*

सहजयान के साथ ही तन्त्रयान भी प्रचलित था, जिसमें शिव और शक्ति को मानव शरीर में ही खोजा गया। शिव ब्रह्म-रन्ध्र (सहस्रार) में और शक्ति मूलाधार चक्र में है जो कुण्डलिनी कहलाती है। सहजियों ने शिव और शक्ति के प्रतीक पुरुष और स्त्री मान लिए और इनके मिलन के 'महासुख' को परम ध्येय समझा। सहजिया सिद्धों की साधना वाममार्गी कही गयी है, क्योंकि वह समाज के दक्षिण मार्ग से भिन्न थी। ये पंचमकार—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन के माध्यम से निर्वाण प्राप्त करना चाहते थे। सहजियों पर जनता स्वभावतः तीखे प्रहार करती होगी। अतः उसके विरोध में उनका स्वर भी उतना ही तीखा हो उठा। उन्होंने समाज में बाह्याचारों, विश्वासों, रूढ़ियों सभी पर प्रहार किया। वे, प्रतीत होता है, आजकल के हिप्पियों के समान आचरण करते होंगे। वे खुले-आम 'मुँह चुम्बि कमल-रस' पीने जैसे आचार के प्रचारक थे। वे फ्राइड के समान वासनाओं के दमन में विश्वास नहीं करते थे। काया-साधना, सहजयान, तन्त्रयान, बज्रयान, सभी उपशाखाओं में मान्य थी। सहजियों ने अपने सिद्धान्तों को गुह्य भाषा में, जिसे 'संधा-भाषा' कहा गया है, सुरक्षित रखा है, जिसके प्रभाव से कबीर आदि सन्तों ने उलटबासियों में अपने को व्यक्त किया। सन्तों में जो समान विरोधी स्वर है वह मुसलमानी प्रभाव न हो कर बौद्धों-सिद्धों की परम्परा का ही सामयिकीकरण है।

× × × ×

भारतवर्ष के सूफियों का योगियों से सम्पर्क १३वीं सदी के प्रारम्भ से ही शुरू हो गया था। ये योगी कौन थे, इसका निश्चित ज्ञान सूफी साहित्य में नहीं मिलता। किन्तु उनके विवरणों से पता चलता है कि वे नाथपन्थी थे जिन्हें हठयोग पर पूर्ण अधिकार था। इनमें वज्रयानी, बौद्ध, तान्त्रिक और सहज-यानी भी थे। ७वीं सदी ई० के सहजयानी सरहपा ने अपने समय के धार्मिक वातावरण का उल्लेख इस प्रकार किया है—

"ब्राह्मणों को रहस्य का ज्ञान नहीं, वे व्यर्थ ही वेद-पाठ किया करते हैं, मिट्टी-जल व कुश ले कर मन्त्र पढ़ा करते हैं और घर के भीतर बैठ कर होम के कड़ुए धुँए से अपनी आँखों को कष्ट दिया करते हैं। वे परमहंस बन कर

*राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ ८

भगवा वेश में उपदेश देते फिरते हैं; और उचित अनुचित का भेद न समझते हुए भी ज्ञानी होने का ढोंग रचा करते हैं। शैव लोग आर्यों के रूप में शरीर पर भस्म लपेटते हैं, सिर पर जटा बाँधते हैं और दीपक जलाकर घण्टा बजाया करते हैं। बहुत से जैन लोग बड़े बड़े नख रख कर मलिन वेश में नंगे रहा करते हैं और शरीर के बाल उखाड़ा करते हैं। क्षपणक लोग इसी प्रकार प्रच्छ के बाल ग्रहण किये फिरते हैं, और अच्छी वृत्ति से रह कर जीवन व्यतीत करते हैं। श्रमण व भिक्खु लोग प्रव्रजित की वन्दना करते हैं। 'स्रोत' की व्याख्या किया करते हैं। कितने लोग महायानी बन कर तर्क-वितर्क में प्रवृत्त होते हैं, मण्डल चक्र की भावना करते हैं और चतुर्थ तत्व के उपदेश देते हैं तथा अन्य लोग अपने को 'शून्य' में मिला देने की आशा में असिद्ध बातों के पीछे पड़े रहते हैं। (परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—पृष्ठ ३९-४९)। सहज साधक चित्त-शुद्धि पर जोर देते थे। सरह ने शरीर के भीतर सहजया महासुख के उत्पत्ति-स्थान की कल्पना, इड़ा पिंगला नामक दो नाड़ियों के संयोग के निकट में की है और उसे पवन के नियमन द्वारा भी प्राप्त करना आवश्यक बतलाया है।

नाथपन्थ के प्रवर्तक गोरखनाथ का समय १०-११वीं शती अनुमाना गया है। हठयोगी नाथों के चमत्कारों की—हवा में उडने आदि की—चर्चा भारत से बाहर गजनी, खुरासान एवं तुर्किस्तान में भी होने लगी थीं। मुसलमान सन्त और सूफी भी हठयोग से प्रभावित होने लगे थे। सूफियों और नाथयोगियों में प्राय: वाद-विवाद होते थे। अजोधन (पाकपट्टन में) बाबा फरीद की खान-काह में योगी पहुँचा करते थे और वाद विवाद होते रहते थे। शेख निजामुद्दीन औलिया भी उनसे प्रभावित थे। शेख नसरुद्दीन ने अपनी गोष्ठी में श्वास-प्रश्वास की वायु के नियमन का उल्लेख किया है। इस कार्य का (सूफी साधना का) मूल आधार नक्स अर्थात दस (प्राण) का नियमन है। मुराकेबे (ध्यान) की अवस्था में सूफी को नक्स का नियमन करना चाहिये। नक्स के नियमन से उसका अन्त: करण स्थिर होता है। छोड़ देने से स्थिर हो जाता है और सूफी साधना में विघ्न पड़ता है। किसी सूफी ने प्रश्न किया कि नक्स का नियमन करने के लिए चेष्टा करनी होती है अथवा वह स्वत: हो जाता है। फरमाया, सर्वप्रथम चेष्टा करनी होती है। तदुपरान्त नियमन स्वत: हो जाता है। फिर फरमाया कि सूफी वह है जिसका नक्स गिना हुआ हो। जब वह पूर्ण हो जाता है तो वह नियमन पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। पहुँचे हुए

योगी जिन्हें हिन्दी भाषा में 'सिद्ध' कहते हैं, गिन कर श्वास-प्रश्वास की वायु का नियमन करते हैं (खैसूल मजालिस—पृ० ६०)।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सूफियों पर नाथों का प्रभाव सूफियों की साधना एवं उनके व्यवहार पर पूर्ण रूप से पड़ने लगा था। सूफी और नाथों में गोष्ठियाँ होती रहती थीं। १४वीं शती में कुछ ऐसा जाली साहित्य भी रचा गया जिसमें नाथों पर सूफियों की विजय दिखलायी गयी।

१५वीं सदी में नाथपन्थियों ने तत्कालीन विचारधाराओं को अन्य रूप से भी प्रभावित किया। एक गोरखपन्थी समूह ने यह आन्दोलन चलाया कि समस्त पीर पैगम्बर गोरखनाथ के चेले हैं। वे मुसलमानों के भय से खुल्लम-खुल्ला तो न कहते थे किन्तु इनका यह मत था कि हज़रत मुहम्मद का पालन-पोषण गोरखनाथ ने किया था और गोरखनाथ का नाम बाबा रैन हाजी बताते थे। मुसलमानों के मध्य रोज़ा-नमाज़ और हिन्दुओं के समूह में पूजा-पाठ करते थे (दबिस्ताने मज़ाहिब, पृष्ठ १७९-१८०)। अतः यह स्पष्ट है कि सन्तों पर सूफियों का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा। सन्तों के पूर्ववर्ती नाथ मार्गियों पर भी नहीं पड़ा था।

सन्तों ने नाम स्मरण पर बार-बार बल दिया है। वैदिक साधक 'ओ३म' के जाप को महत्व देते हैं, क्योंकि विश्वास है कि वही सृष्टि की 'आदि' ध्वनि है, ब्रह्म रूपा है। सन्तों ने राम, हरि, कृष्ण, गोविन्द, विट्ठल आदि शब्दों को स्मरण करने का उपदेश दिया है, पर 'राम नाम' उन्हें बहुत प्रिय है। जप से समवृत्तिरूपता पैदा होती है। साधक ऋत-छन्द (सत्य-छन्द) और आनन्ददायी मधुछन्द के प्रति अभिमुख होता है, ऋत सृष्टि का प्रथम कारण कहा गया है, इसी से सत्य रूप है। बार-बार नामोच्चार से, जो स्पन्दन होता है वह हमारे भीतर ही स्थित चक्रों को जागृत करता है। ऐसा विश्वास है कि सृष्टि के प्रत्येक अणु में और हमारे शरीर की प्रत्येक कोशिका के भीतर भी स्पन्दन छिपा है, जो जरा-सा धक्का लगने पर बहिर्गति को प्राप्त होता है जिससे एक प्रकार की लय उत्पन्न हो जाती है। यह लयता ही साधक को परम सत्य के साथ एकलय होने में सहायक होती है। साधक के मार्ग में चार प्रकार की बाधाएँ आती हैं—(१) अवरोध (२) प्रतिरोध (३) विरोध और (४) निरोध इनको दूर करने पर ही हमारा जीवन 'ऋति' बनता है और ऋत (सत्य) का अनुसंधान करने में प्रवृत्त होता है। जब आत्मा परमात्मा से लयमय हो जाती है तब बाधा-विघ्न निःशेष हो जाते हैं। जप का उद्देश्य नादानुसन्धान है। शंकराचार्य 'योग तारावली' में कहते हैं—'नादानुसन्धान समाधिमेकं मन्यामहे—

अन्यतम् लक्षानामं'। शंकराचार्य नादानुसन्धान समाधि को श्रेष्ठ योग निरूपित करते हैं। नाम वर्णात्मक होता है। प्रत्येक वर्ण और शब्द की अपनी सत्ता होती है, शक्ति होती है, आकृति होती है और छन्द होता है। ब्रह्म के अनेक नाम हैं, किसी भी नाम का स्मरण या 'जप' किया जा सकता है, परन्तु सन्तों ने तो 'सहज' पर बल दिया है और 'राम' नाम छोटा है, सहज ही उच्चरित हो जाता है और उसमें 'नाद' को पैदाकर 'बिन्दु' से जोड़ने की क्षमता भी है। नाम-मन्त्र में तीन तत्व होते हैं—(१) अग्नि तत्व (२) सोमतत्व और (३) सन्तुलक तत्व। अग्नितत्व साधक में ताप, सोमतत्व शीत और सन्तुलक तत्व से ताप और शान्त में सन्तुलन स्थापित होता है। 'राम' नाम में 'र' अग्नितत्व 'अ' सन्तुलक तत्व और म् सोम-तत्व है। अत: रामोच्चार करते समय 'र' वर्ण का उच्चार 'म' की अपेक्षा तनिक अधिक मुखरता के साथ होना चाहिये और 'म' का शान्तता के साथ। साधक जब एकाग्र भाव से राम-नाम का उच्चार कर अपने को पराशक्ति के साथ एकाकार अनुभव करता है, तो उसे 'समाधि' की लयता प्राप्त होने लगती है; धीरे-धीरे अनायास नाम बैखरी वाणी से क्रमश: पश्यन्ती और परा वाणी से होने लगता है। इस तरह अखण्ड जप-क्रिया साधित हो जाती है।

एक वाक्य में यदि हम सन्त-साहित्य का सार तत्व कहना चाहें, तो कह सकते हैं कि सन्तों ने समाज से ही—परम्परा से ही—सब कुछ ग्रहण किया है। उनकी वाणी लोक-वाणी है, लोकोद्धार की वाणी है।

सन्तमत में योग के पारिभाषिक शब्द

योग की दो प्रमुख शाखाएँ हैं, जो हठयोग और राजयोग कहलाती हैं। हठयोग प्रथम काया-शुद्धि पर बल देता है—'शरीरम् आद्यं खलु धर्म साधनम्'। राजयोग आत्मिक शक्ति-जागरण पर साधक को केन्द्रित करता है। अष्टांगयोग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम का सम्बन्ध शरीर स्वास्थ्य से सीधा है, पर उसमें संयम का भी अंश होने से मानसिक और आत्मिक उन्नति का भी लक्ष्य है। धारणा, ध्यान और समाधि का मुख्य लक्ष्य आत्मोन्नति है।

सन्तों ने योग के कई पारिभाषिक शब्द ग्रहण किये हैं। कतिपय शब्द—जिनका सर्वाधिक प्रयोग हुआ है, यहाँ दिये जाते हैं।

समाधि—'साधो सहज समाधि भली'—कबीर

अष्टांगयोग का अन्तिम अंग हैं जहाँ साधक और साध्य एकाकार हो परमज्योतिमय हो जाते हैं।

२. नाद—योग में इसे अनाहत नाद कहते हैं। 'नादि समाइलों रे सतिगुरु भेटिले देवा', 'तहँ अनहद सबद बजंता'—नामदेव। जब कुण्डलिनी सुषुम्ना से उर्ध्व गति होती है तब 'स्फोट नाद' होता है और सत्गुरु की कृपा से अनाहत शब्द सुनायी देता है।

३. अमिरत रस—'गूंगे आम्रित रस चाखिया'—नामदेव

जब कुण्डलिनी सहस्रार में प्रवेश करती है तब वहाँ से स्रवित होने वाला **अमृत-रस** का योगी पान करता है। पर साधक उसके स्वाद को व्यक्त नहीं कर सकता।

४. इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना—'इड़ा-पिंगला अउर सुषमना पउने बाँधि रहाऊँगो' —नामदेव। शरीर में अनेक नाड़ियों का जाल है, जिसमें बाईं ओर इड़ा, मध्य में सुषुम्ना और दाँई ओर पिंगला नाड़ी है। इड़ा और पिंगला को क्रमशः चन्द्र और सूर्य नाड़ी भी कहते हैं। इड़ा का स्वभाव शीतल और पिंगला का उष्ण कहा गया है। कुण्डलिनी एक शक्ति है जो मूलाधार चक्र में लिपटी पड़ी कही गयी है जब प्राणायाम, ध्यान आदि से जागृत होती है तब सुषुम्ना-मार्ग से ही सहस्रार (ब्रह्मरन्ध्र) की ओर उत्क्रान्त करती है।

अवधू मेरा मन मतिवारा,
उन्नति चढ्या मगन रस पीवे
त्रिभुवन यथा उजियारा

गुड़ गरि ग्यान ध्यान कर महुआ, भव माठी करिभारा।
सुषुम्ना नारी सहजि समानो पीवै पीवन हारा।

५. सहज—सिद्धों का प्रिय शब्द है—यह समरस का भी पर्याय माना गया है। 'सहजे भावाभाव ज पुच्छई सृष्टिा करण वहि समरस इच्छह।' गोरख इसे सरल के अर्थ में, स्वाभाविक के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। कबीर ने निर्गुण ब्रह्म और सरल आभार के अर्थ में प्रयोग किया है। 'सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्हें कोय, जिन सहजै विषयातजी सहज कही जे सोय'—कबीर।

६. खसम—का सिद्धों ने आकाश के समान, और मन के अर्थ में प्रयोग किया है। कबीर ने पति व निर्गुण ब्रह्म के अर्थ में किया है। सिद्धों ने सरह-पाद, तिल्लोपाद आदि ने भी इसका प्रयोग आकाश घट अर्थ में किया है।

७. उनमनि—यह योग की तुरीयावस्था है। (इसे मन को ऊपर उठाने

की अवस्था भी कह सकते हैं)। 'अवधू मेरा मन मतिवारा, उन्मनि चढ़ा मगन रस पीवै।' इस अवस्था में द्वैतभाव का लोप हो जाता है। नाथ मत में यह समाधि अवस्था का द्योतक है। त्रिकुटी पर ध्यान करने से यह अवस्था प्राप्त होती है। अतः उन्मनि ध्यान की स्थिति भी कही गयी है।

८. **शून्य**—कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। मुंडकोपनिषद् में उसे इन्द्रियानुभव से परे कहा है। 'सर्वविशेषरहितत्वात् शून्यवत् शून्यः'। **यह सहज का अर्थ भी देने लगा।** सिद्ध नागार्जुन ने शून्य को अस्ति-नास्ति और दोनों से परे 'तत्व' कहा, जो वैदिक साहित्य का 'अनिर्वचनीय' ही है। कहा जाता है शंकराचार्य ने नागार्जुन के 'शून्यवाद' से प्रेरणा ले कर अद्वैतवाद की कल्पना की। सिद्धों ने उसकी 'अस्तित्वहीन' तथा तथता के रूप में भी कल्पना की। वह प्रज्ञामय महामुद्रा और अद्वैत तत्व का अर्थ भी देने लगा। **नाथों ने उसे 'परमतत्व' कहा है।** सन्तों ने उसे आदि तत्व, सुषुम्ना नाड़ी, ब्रह्मरन्ध्र और जीवनमरण रहित तत्व माना है। 'सहज' शून्य में जिन रस चाखा, दास कबीर हरिरस माता—कबीर। 'शून्यमिति न वक्तव्यं अशून्यमिति वा भवेत् : उभयं गेयमं नेव प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते। (ह० प्र० द्विवेदी)

९. **कुण्डलिनी**—कुण्ड अथवा रीढ़ के निम्न भागों में स्थित स्वयंभू लिंग के ऊपर कुण्डलिनी शक्ति आठ तह का कुण्डल बना कर अपने मुख से ब्रह्मद्वार को नित्य ढाँपे पड़ी रहती है। इड़ा और पिंगला नाड़ियों का जब सुषुम्ना (रीढ़ के मध्य स्थित नाड़ी) से बहने वाली प्राणवायु के साथ प्राणायाम आदि क्रियाओं द्वारा मेल होता है, तब कुण्डलिनी जागृत हो ऊर्ध्व गति को प्राप्त होती है और षट्चक्रों को वेधती हुई सहस्रार (ब्रह्मरन्ध्र) में प्रवेश करती है। यहाँ अमृत झरता है और जीवात्मा उसका पान करती है। इसी अवस्था में अनाहत नाद सुनाई पड़ता है और 'प्रकाश' दिखायी देता है। आत्मज्योति परमात्म ज्योति से एकाकार हो जाती है। इसी को कुण्डलिनी योग या लय योग कहते हैं। आधुनिक डाक्टर कुंडलिनी नाड़ी को 'वेगस नर्व' से एकाकार करते हैं पर यह अभी विवादास्पद है।

१०. **निर्वाण**—बौद्ध साहित्य में दुःख से निवृत्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सिद्ध-साहित्य में निश्चित, निर्विकल्प और निर्विकार स्थिति का अर्थ होता है। सन्तों ने मुक्ति के अर्थ में ग्रहण किया है।

११. **नाद-बिन्दु**—नाद का अनाहत नाद और **बिन्दु का 'वीर्य'** अर्थ लिया गया है। **पराशक्ति** के लिए भी कहीं-कहीं प्रयुक्त हुआ है। हठयोगी इसकी साधना

को बहुत महत्व देते हैं। गोरखनाथ पवित्रतावादी नाथ थे। अतः उन्होंने **बिन्दुरक्षा** पर बहुत बल दिया है। **'लय योग'** में **नाद-बिन्दु साधना का महत्व है**—'न नाद समोलयः'—(शिव संहिता)। तान्त्रिक ग्रन्थों में भी नाद-बिन्दु-साधना का उल्लेख है। सन्तों ने नाथयोगियों से ये शब्द लिए हैं और प्रायः उन्हीं के द्वारा ग्रहीत अर्थों में उनका प्रयोग किया है। 'नाद छन्द की नावरी रामनाम कनिहार, कहै कबीर गुण काहले, गुरु गमि उतरौ पार'—कबीर।

ये शब्द चूंकि साधकों में परम्परा से प्रचलित थे इसलिए सन्तों ने भी अपनी वाणियों में इन्हें ग्रहण कर लिया। **'नाद' परमात्मा और बिन्दु जीवात्मा** के अर्थ में भी सन्तों द्वारा प्रयुक्त हुए हैं।

१२. **निरंजन**—के सम्बन्ध में बहुत किवदन्तियाँ हैं। कोई इसे एक पूर्व में प्रचलित पन्थ मानते हैं, कोई बुद्ध का ही एक नाम निरंजन मानते हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे निर्गुण मत न मान कर कोई देववाद प्रधान मत माना है। और कबीर पर उसका भी प्रभाव देखा है। पर किस रूप में यह स्पष्ट नहीं है। यदि निरंजन साधक प्रेम और विरह की पीर के पुरस्कर्त्ता हैं तो ये भाव केवल 'निरंजनियों' में ही नहीं मिलते। और जब निरंजनी सम्प्रदाय और हठयोग की साधनाओं में समानता है तब इसे हठयोग की ही एक शाखा मानने में क्या आपत्ति है? **'कबीर ने परमात्मा के अर्थ में 'निरंजन' का प्रयोग किया है।'**

> **गोविन्दा तू निरंजन, तू निरंजन, तू निरंजन राया।**
> **तेरे रूप नाहीं नेह नाहीं, मुद्रा नहीं माया॥**

संसार 'निरंजन' से ही आपूर है। सन्तों ने 'निरंजन' को ही पराशक्ति माना है।

पाया न जाई कीतान होई। आये आपि निरंजन सोई—नानकदेव।
निरंजन को कोई स्थापित नहीं करता, न कोई सृष्ट करता है, वह तो स्वयं ही स्थित है। वही आदि देव है।

सन्तों द्वारा प्रयुक्त छन्द

सन्तों ने ऐसे छन्दों को अपनाया है जो लोक-प्रचलित थे। उनमें **साखी, दोहरा छन्द** बहुत प्रसिद्ध है। **सन्त गुरु के वचन** 'साखी' और **शिष्यों के वचन दोहा या 'दोहरा' कहलाते थे**। साखी, साधारणतः दोहा छन्द में लिखी जाती है, परन्तु सन्तों ने उसमें दोहा छन्द में निर्धारित मात्राओं का ध्यान नहीं

रखा । आदि ग्रन्थ में 'साखी' सलोक कही गई है। 'सलोक' संस्कृत 'श्लोक' का ही पंजाबी उच्चारित रूप है । उसमें पावित्र्य का भाव समझा जाने से 'साखी' को सलोक कहा गया, क्योंकि उसमें पवित्र सन्तों की 'बानियाँ' गुम्फित हैं ।

पद—सन्तों ने संगीत के रागों में भी अपने वचन गाये हैं । उनकी गेय-वाणी 'पद' कहलाती है । उनके पद गौड़ी, रामकली, धनाश्री, कल्याण, मलार, बसन्त सारंग आदि रागों में हैं ।

रमैनी—रमैनी रामायण से बना है । डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि "दोहा-चौपाइयों में लिखी गयी तुलसीदास की रामायण के प्रभाव ने कबीर पन्थियों को भी अपनी रामायण बनाने को प्रोत्साहित किया और सन् ई० १८वीं शताब्दी में किसी समय दोहा-चौपाई में लिखित पदों को रमैनी कहा जाने लगा।"

रमैनी में दोहा-चौपाई की कड़वक शैली का प्रयोग किया गया है ।

चौपाई—यह सूफी और राम काव्य रचयिताओं का प्रिय छन्द है । इसमें १६ मात्राएँ होती हैं। कबीर ने रमैनी वाले पदों में इसका प्रयोग किया है । रैदास और दादू ने भी इस छन्द का प्रयोग किया है ।

निष्कर्ष

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सन्त-मत के बीज वैदिक साहित्य में खोजे जा सकते हैं पर उसका निकटतम प्रेरणा-स्रोत नाथ का मत है । चूँकि नाथ-मत महायान, सहजयानी अथवा वज्रयानी सिद्धों का सुधारक मत है, इस लिए सिद्धों की वाणियाँ जो समाज में प्रचलित थीं सन्तों को प्रभावित करती रही हैं, समाज में प्रचलित रूढ़ियों यथा, वर्ण-व्यवस्था, ब्रह्म, तीर्थ, पवित्र, नदी स्नान, आदि का विरोध उनमें पाया जाता है । वे सहज जीवन के पक्ष-पाती हैं । वे देश में प्रचलित सभी दर्शनों से थोड़ा-थोडा ग्रहण करते हैं, पर उन्हें निर्गुण भक्ति प्रिय है । निर्गुण मत सरल ज्ञान है । वैष्णवों की नवधाभक्ति से उन्होंने 'नाम स्मरण' को महत्व दिया क्योंकि वह सहज साध्य है । सन्तों पर ईसाई धर्म का बिल्कुल नहीं और सूफियों का अल्प मात्रा में प्रभाव देख सकते हैं ।

संत-मत का प्रारम्भ अनिश्चित है । पर सन्त-काव्य के प्रारम्भ की हम खोज कर सकते हैं । कबीर का कथन है "गुरू परसादी जै देव नामा, जगति के प्रेम इन्हहि है जाना ।" कबीर जयदेव को संत-सिरोमणि मानते हैं, परन्तु रज्जब, दादू, सुन्दरदास और रैदास, नामदेव को यह पद प्रदान करते हैं :—

नाम कबीर सुकौन थे कुन राँका बाँका—रज्जब
नामदेव कबीर जुलाहों जन रैदास तिरै—दादू
जैसे नाम कबीर जी यौं साधु कहाया
आदि अंत लौ आइकै राम समाया।—सुन्दरदास
'नामदेव' कबीर तिलोचन, सधना सेतु तरैं—रैदास

पं० परशुराम जी जयदेव का सम्बन्ध गीत-गोविन्दकार जयदेव से जोड़ते हैं क्योंकि उसका पद 'आदिग्रन्थ' में मिलता है। परन्तु कवि जयदेव के गीत-गोविन्द का भाषा-वैभव सन्त जयदेव में कहाँ है ? अत: हमारे मत से कवि जयदेव से सन्त जयदेव पृथक् व्यक्ति हैं। उत्तर भारत में नामदेव ने सन्त-मत का जयघोष किया जिसे कबीर ने सारे भारत में फैला दिया। कबीर के प्रभाव के निम्न पन्थ प्रचलित हुए :—

पन्थ	प्रवर्तक	प्रवर्तन तिथि तथा स्थान
१. कबीर पन्थ	कबीर	१४७०, काशी
२. सिक्ख	नानक	१५००, पंजाब
३. दादू पन्थ	दादू दयाल	१५७५, राजस्थान
४. ललिदासी	लालदास	१६००, अलवर
५. सतनामी	—	१६००, नारनौल
६. बावालानी	बाबालाल	१६८५, सरहिन्द
७. साध	वीरभान	१६५८, दिल्ली के निकट
८. चरनदास	चरणदास	१७३०, दिल्ली
९. शिवनारायण	शिवनारायण	१७३४, गाजीपुर
१०. गरीबदास	गरीबदास	१७४०, रोहतक
११. रामसनेही	रामचरण	१७५०, शाहपुर

इन सब पन्थों का दार्शनिक पक्ष और आचार-धर्म लगभग समान है। सभी ने—

१. मूर्तिपूजा का निषेध और निराकार ब्रह्म का नाम रूप हरि, राम के नाद आदि में प्रचार किया।

२. गुरु महात्म्य की प्रतिष्ठा की।

३. जाति और स्त्री-पुरुष का भेद-भाव नहीं माना।

४. सभी ने अपनी वाणियाँ लोक-भाषा में कही, जो सिद्धों की नीति का अनुसरण है।

बौद्धों की महायान शाखा ने बुद्ध की पालिभाषा के स्थान पर संस्कृत को पुनः प्रतिष्ठित किया था पर उनके विरोधी सहजियों ने सहज-लोक-भाषा को अपनाया। यह परम्परा बराबर और निर्गुणी और सगुणी सन्त और भक्तों में जारी रही। केशव को भी जिनके सेवक तक 'संस्कृत' बोलते थे अपनी कुटुम्ब रीति को त्याग कर साहित्य रीति को अपनाकर 'भाषा' में बोलना पड़ा।

सन्तों का वास्तव में मानवतावादी दृष्टिकोण रहा है। वे राजा जनक के समान सांसारिक विहित कर्म करते हुए विदेह रखते थे। सन्तों को हम दो श्रेणियों में रखेंगे। एक में नामदेव-कबीर आदि वैष्णव सन्त आते हैं, जो देश के दर्शन और विचारों के प्रेरणा ग्रहण करते थे। दूसरी में सूफी, जो इस्लाम धर्म को प्रमुखता देते थे। सूफियों में कुतबन, मंझन, जायसी प्रमुख हैं। जहाँ सूफियों ने लोक-प्रचलित आख्यानों को प्रबन्ध काव्य में उतारा वहाँ वैष्णव सन्तों ने मुक्तक रूपों को अपनाया। उन्होंने लोक प्रचलित छन्दों को, जो शास्त्रीय नियमों से मुक्त हैं और राग-रागनियों को भी अपनाया। वे पहले उपदेशक थे, बाद में कवि।

भारतीय संत-साहित्य को पलायनवादी साहित्य कहा जाता है, जो वस्तुस्थिति से भिन्न है। सन्तों ने संसार से भागने का नहीं, उससे जूझने का उपदेश दिया है। अनाचार के विरुद्ध शर-सन्धान को प्रेरणा दी। कहा जाता है, कबीर को तत्कालीन शासक ने काशी से उनकी इसी उग्रता के कारण निष्कासित कर दिया। यहाँ वे संयमी जीवन पर बल देते थे, ग्रहस्थ-जीवन के विरोधी भी नहीं थे। उनमें से बहुत से ग्रहस्थ थे।

संतों ने अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त देश-भाषा को भी स्वीकार किया था। मध्यदेशीय भाषा प्राकृत सदा से देश की व्यवहार-भाषा रही है। क्योंकि सन्तों को अपने उपदेश देश भर में प्रचारित करना अभीष्ट था इसलिए उन्होंने देश प्रचलित केन्द्रीय भाषा को सहज भाव से अपनाया और इस तरह देश की सांस्कृतिक एकता को स्थापित करने का भावी मार्ग प्रशस्त किया।

सन्तों की भाषा को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही 'सधुक्कड़ी भाषा' कहा है। इस एक शब्द से ही उसकी पूर्ण व्याख्या हो जाती है। साधु चलता-फिरता प्राणी है, कई घाटों का पानी पीता चलता है। अतः जिस घाट पर गया है वहाँ की भाषा का रस भी ग्रहण करता जाता है। इसीलिए उसकी भाषा में वैविध्य पाया जाता है, उसमें कई भाषाओं की शब्दावली दूध-पानी की तरह मिल गयी है। पर यह कहना भी कठिन है कि जो वाणियाँ सन्तों की

हमें प्राप्त हुई हैं वे वस्तुतः उन्हीं की हैं क्योंकि उनमें भक्तों ने मिश्रण अवश्य किया होगा। फिर भी जिस रूप में वे प्राप्त हैं, हम उनमें प्रधानता खड़ी-बोली की देखते हैं। उनमें प्रतीकों का प्रयोग अधिक है। सन्त अपनी अनुभूति को बहुत कुछ गुह्य रखना चाहते थे। उन्हें यह उलटबासियों तथा प्रतीकों के प्रयोग को प्रेरणा सिद्धों की भाषा से मिली होगी जो संधा-भाषा से अभिहित की गयी। सभी सन्तों की वाणियों में काव्य की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति के दर्शन नहीं होते। दादू पन्थी सुन्दरदास जी की गति काव्य-शास्त्र में थी और वे 'सन्त' के साथ-साथ उत्कृष्ट कवि भी थे। अतः उनमें हम काव्य-सौन्दर्य के दर्शन कर सकते हैं।

कबीर और दादू

भारतीय धर्म-प्रचारकों में आदि शंकराचार्य और गोरखनाथ के बाद कबीर का व्यक्तत्व ही ऐसा है जिसका समस्त भारतीय जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा है। कबीर का जन्म काशी में हुआ या मगहर में, यह निश्चय करना कठिन है। कबीर की साखियों में कहीं मिलता है—

"पहले दरसन मगहर भयो, पुनि काशी बसे आई।" और कहीं

"तोरे भरोसे मगहर बसिओ"

इन दो विरोधी कथनों में किसे प्रामाणिक माना जाय ? सर्वप्रथम तो हमें यह जान लेना चाहिये कि सन्तों की वाणियों की प्रामाणिकता प्रायः सन्दिग्ध रहती है, क्योंकि उनकी हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त नहीं हो पातीं और कबीर के सम्बन्ध में तो और भी कठिनाई है। 'कबीर' ने तो 'मसि कागद' छुआ तक नहीं, जब लहर में आ गये, कुछ बोल दिया, शिष्यों ने उसे अपने ढंग से टीप लिया। 'कबीर' के नाम पर कई साखियाँ उनके शिष्यों-भक्तों ने चला दीं। पाठ भेद के कई कारण होते हैं। डॉ० पारसनाथ त्रिपाठी ने प्राचीन पाण्डुलिपियों के सहारे उनकी वाणियों का आदर्श पाठ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इसे प्रयत्न और स्तुत्य प्रयत्न कहा जा सकता है, इससे अधिक नहीं।

प्राचीनकाल में लोग अपनी 'बात' को प्रचारित करना चाहते थे, अपने को नहीं। जिस साखी या दोहों में 'कबीर' की छाप होती जनता में तुरन्त प्रचारित हो जाती। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने कबीर का जन्म सम्वत् ज्येष्ठ शुक्ल चन्द्रवार सम्वत् १४५६ बाह्य साक्ष्य के आधार पर निश्चित किया है और निधन सम्वत् १५७५ है। कबीर के माता-पिता और जीवन-वृत्त का आधार कबीर पन्थियों की चमत्कारी वार्ताएँ और जनश्रुतियाँ हैं, जो महात्माओं के जीवन को चमत्कार पूर्ण बनाने में स्पर्धा करती है। कबीर साखियों में अपने को बार-बार 'जुलाहा' कहते हैं।

(१) 'तू बम्हन मैं कासी का जुलहा, मोहि तोहि बराबरि कैसे के बनहिं'

(२) 'जाति जुलाहा मति को धीर, हरिष-हरिष धुण रमै कबीर'

डॉ० बड़थ्वाल का मत है कि उनके माता-पिता मूलतः हिन्दू जोगी थे। बाद में मुसलमान हो कर 'जुलाहा' हो गये। डॉ० हजारी प्रसाद उनका सम्बन्ध जुगी जाति से मानते हैं, जो पहले न हिन्दू थी, न मुसलमान। इनका सम्बन्ध अधिकतर वर्णाश्रम धर्मविहीन नाथ-पन्थी योगियों से था। यवनों के आने पर इस जाति ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। किन्तु धर्म परिवर्तन किये हुये अधिक दिन व्यतीत न होने के कारण इनका सम्बन्ध नाथपन्थी परम्परा और संस्कारों से भी बना हुआ था। कबीरदास जी ऐसी ही इस्लाम परिवर्तित जुगी जाति में उत्पन्न हुए थे। कबीर ने अपने को हीन जाति का कहा है—'जुलाहा' कहा है—मुसलमान नहीं कहा। पं० चन्द्रबली पाण्डे ने एक नया तर्क उपस्थिति किया है। वे उन्हें सूफी मुस्लिम कहते हैं और अपने मत के समर्थन में उनके उन पदों को उद्धृत करते हैं जिनमें प्रेम की सूफियाना पीर है। यह उन्हें मुसलमान मानने का निर्णायक तर्क नहीं हो सकता क्योंकि उनके पदों में वैष्णव भाव के भी अनेक पद हैं और उनमें 'साकत' की अपेक्षा वैष्णव के प्रति गहरी प्रीति दिखायी देती है। यदि उनके पदों में सूफियों की 'पीर' होने से वे मुसलमान सिद्ध किये जा सकते हैं, तो उनमें वैष्णवों की व्याकुलता दीखती है तो उन्हें हिन्दू' क्यों न माना जाय। इससे तो डॉ० हजारी प्रसाद जी का ही मत ठीक प्रतीत होता है कि व न हिन्दू थे, न मुसलमान। सन्त मत में तो 'जाति पाँति पूछै नहिं कोई, हरि का भजै सो हरि का होई' का भाव है।

कबीर के माता-पिता के सम्बन्ध में भी अटकलबाजियाँ लगायी गयी हैं। एक मत से वे विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे और नीरू-नीमा से पोषित किये गये थे, दूसरे मत के अनुसार वे नीरू और नीमा के औरस पुत्र थे। अन्तर-बाह्य साक्ष्य से किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता। कबीर के गुरु रामानन्द थे, शेख तकी थे या निगुरे थे, यह भी विवादास्पद है। कबीर पन्थी 'तकी' को उनका गुरु मानते हैं, पर डॉ० मोहनसिंह के मत से उनका कोई 'गुरु' नहीं था। 'रामानन्द' ने उनको 'चेताया', ऐसा संकेत कबीर के पदों से मिलता है। नाभादास, प्रियादास आदि ने इसी मत का समर्थन किया है। कबीर का पारिवारिक जीवन भी धुँधलके में छिपा हुआ है। पर 'बूड़ा बंस कबीर का उपजा पूत कमाल' जैसी उक्तियों से ज्ञात होता है कि उन्होंने गृहस्थ जीवन व्यतीत किया था। मैंने महाराष्ट्र में कबीर-सुत 'कमाल' के दोहे प्राचीन

मराठी पाण्डुलिपियों में संगृहीत देखें हैं। लगता है 'कमाल' अपने 'पिता' के व्यंग्य-वचन-बाणों से बिद्ध हो दक्षिण-पश्चिम में चले गये और वहाँ अपने पिता के समान साखियाँ कहने लगे थे, जिन्हें महाराष्ट्रीय भक्तों ने अपने सन्तों की वाणियों के साथ संगृहीत कर लिया था। कबीर के जीवन-वृत्त को जानने के लिए अनन्तदास की पाँच परिचियाँ देखी जा सकती हैं, जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, मलूकदास की गद्दी, कड़ा, प्रयाग में संगृहीत हैं। उनका जीवन-काल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी माना जा सकता है। अनन्तदास के अतिरिक्त नाभादास (सं० १६४२), प्रियादास (सं० १७६६), राघोदास (स० १८६१), रघराज सिंह (सं० १८३०) ने भी उनके जीवन पर प्रकाश डाला है, पर यह 'प्रकाश' भी हमें वैज्ञानिक युग में उनके जीवन का वास्तविक रूप समझाने में सहायक नहीं हो सका। जो हो, कबीर ने देश-भ्रमण अवश्य किया होगा। विभिन्न सम्प्रदायों के साधु-मतों का संग किया होगा और उनके मतों का सार ग्रहण किया होगा। उनके प्रादुर्भाव के समय देश में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय और दर्शन प्रचलित थे। नाथ-सिद्ध अलख जगा ही रहे थे, सूफी-जगत में 'माशूक' को निहारने में लगे थे। वैष्णवों की अनेक शाखाएँ भक्ति का मार्ग निरूपित कर रहीं थीं। समाज में हिन्दू-मुसलमानों में टकराहट होती रहती थी। धर्मान्तरित नव मुस्लिम समाज भी समादृत नहीं था, वह शासकवर्ग और मूल मुसलमानों की दृष्टि में हीन समझा जाता था। मुसलमान हिन्दुओं को 'काफिर' कह उनके धर्म-स्थानों को भ्रष्ट करते रहते थे। कबीर ने अपने समय की स्थिति को एक साखी में झाँकी प्रस्तुत कर दी है---

दश सन्यासी बारह जोगी, चौदह शेख दरबान।
अठारह बाम्हन अठारह जोगी, चुबिश शेवड़ा जान।।

योगी-यती, मुल्ला-मौलवी, ब्राह्मण-पंडित, जैन मुनियों में परस्पर संघर्ष होता रहता होगा। हिन्दूओं के वैष्णव, शाक्त, शैव, स्मार्त धर्म आदि प्रचलित थे जो किसी-न-किसी रूप में साकार ब्रह्म की उपासना करते थे।

नाथ योगी निराकर ब्रह्मोपासक थे। कबीर के पूर्व नामदेव जयदेव आदि सन्त समाज में प्रचलित रूढ़ियों--जातिभेदों आदि की भर्त्सना करते आ रहे थे। कबीर ने भी उनका अनुकरण किया। पर जहाँ नामदेव वारकरी पन्थ का आचार धर्म स्वीकार कर ब्रह्म के सगुण रूप को भी मान्यता देते थे—पंढर-पुर के विठोवा की प्रतिमा की पूजा करते थे—वहाँ 'कबीर' बाह्याचारों से

विलग रहते थे। उनका मूर्तिपूजा, अवतरा, व्रत, तीर्थ आदि बाह्याचारों में जरा भी वश्विास नहीं था। उन्होंने समाज के उन सब आचारों की, जिन्हें वे 'बुरा' मानते थे, घोर निन्दा की है। प्रचलित धम सम्प्रदायों में शाक्तों से उन्हें घोर घृणा थी। 'सायत' को श्वान का भाई कहा है, इतना ही नहीं, उससे 'सूकर' को भी भला माना है। वैंष्णव के सम्बन्ध में कहते हैं :—

"वैश्नों की छपरी भली, न साकत का बड़ गाँव"—
"सायत ब्राह्मण ना मिले, वैसनों मिले चँडाल।"
"सायत संग न कीजिये दूरि जाइये भागि"

शाक्तों के बाह्याचार उनकी पंच मकार की उपासना कबीर को घृणास्पद तथा असामाजिक प्रतीत होने से ही वे उनका तिरस्कार करते थे।

समाज में ब्राह्मणों और मुल्लाओं दोनों के विचारों और आचारों को समाज-विरोधी मानते थे और उनकी निन्दा करते थे। मनुष्य-मनुष्य में भेद उन्हें स्वीकार नहीं था, सभी प्राणी परमात्मा के बनाये हुए हैं। अतः एक उच्च और दूसरा नीच क्यों समझा जाय ?

"अल्ला एकै नूर उपजाया, ताकी कैसी निन्दा।
ता नूर सब जग कीया, कौन भला, कौन मंदा।

(कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०४)

हिन्दू धर्म में वर्ण-व्यवस्था का इसी भाव से वे **विरोध करते** थे। उनका मत था कि यह "व्यवस्था परमात्मा ने नहीं बनायी है। यदि वह बनाता तो ब्राह्मणों के ललाटों पर तीन रेखाएँ बना कर ही वह उन्हें पैदा करता।" कबीर अपने युग में सच्चा स्वाभाविक समाजवाद स्थापित करना चाहते थे।

कबीर का धार्मिक विश्वास

समन्वयवादी या तो 'राम' रूपी ब्रह्म का नामोच्चार परमधर्म मानते थे—'जोगी गोरख-गोरख करे, हिन्दू रामनाम उच्चारे।'

मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीर को स्वामी घटिघटि रह्यौ समाई।
हमारे राम रहीम करीमा केसो, अल्लाह रामसति सोई।
विसमिल मांहि विसंभर एरै और न दूजा कोई॥'

वे तो उपासना का एक ही साधन मानते थे और वह था 'रामनाम' का जाप। और सम्भवतः यह मन्त्र उन्हें अपने गुरु रामानन्द से प्राप्त हुआ था।

समाज में बौद्ध-सिद्धों के प्रचार के कारण मन्त्रों का सम्मान था। वे अमित फलदाता माने जाते थे। कबीर को राम सुमरिन का मन्त्र-योग सहज लगा। यह कहा जा चुका है कि कबीर की व्यवस्थित ढंग से शिक्षा नहीं हुई थी, पर वे अशिक्षित नहीं थे। उन्होंने अपने युग के सभी धर्म सम्प्रदायों का साधु-संगति से परिचय प्राप्त कर लिया था। उनकी 'वाणियों' में कहीं विरोधी स्वर भी सुन पड़ता है। इसका कारण यह है कि उनकी किसी एक सम्प्रदाय के प्रति एकान्त निष्ठा नहीं थी। उन्होंने प्रत्येक धर्म और दर्शन से मधु-संचित किया था और उसमें अपना अनुभव-रस मिला कर जनता में वितरित किया था। उनके 'राम' न निगुणी हैं, न सगुणी—वे इन सबसे परे हैं। इसीलिए हम कबीर को किसी धर्म-सम्प्रदाय में नहीं बाँध सकते। वे विवादी भले हो, 'वादी' नहीं थे। वे राम को घट-घट में देखते थे। वे इसी कारण शांकर अद्वैतवाद के निकट दिखायी देते हैं। कहते हैं—

> "जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।
> फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह तथ कह्यो गियानी।
> पाणी हो ते हिम भया, हिम है गया बिलाय,
> जो कुछ था सोई भया, अरु कछु कहा न जाय।"

अनुभूति उन्हें 'गुरु कृपा' से हुई थी,

> "न ग्यानप्रकास्या गुरु मिल्या, सो जिन बीसरि जाई।
> जब गोविन्द कृपा करी, तब गुरु मिलिया आई॥"

आध्यात्मिक साधना में 'गुरु' का महात्म्य भारतीय साधना में प्राचीनकाल से वर्णित है। इसे सूफी-प्रभाव नहीं मानना चाहिये। पं० चन्द्रवली तो उन्हें सूफी ही मानते हैं। सन्त-मत के आचार्य पं० परशुरामजी चतुर्वेदी ने परमतत्व की अनुभूति तीन विभिन्न स्थितियों में देखी है, "सर्वप्रथम उसके लिए विरह जागृत होने की दशा आती है, जो किसी गुरु की सहायता से सम्भव है....गुरु उसके अन्दर एक प्रकार की पिपासा जागृत कर देता है जिसकी तृप्ति के लिए वह बेचैन हो जाता है।....वह अपनी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार के कष्ट झेलने को उद्यत हो जाता है और उसके अभाव में तड़पता रहता है। उस अनुभूति की दूसरी क्रमिक अवस्था तब आती है जब साधक को उस तत्व का परिचय मिलता है। इस दशा में पहुँचने पर उसके हृदय में एक प्रकार का विचित्र आह्लाद उत्पन्न हो जाता है, जो उसे आनन्द-विभोर कर

देता है। यह मध्य की स्थिति ही वह प्रत्यक्ष एवं गम्भीर अनुभूति है जिसकी अभिव्यक्ति सदा दुष्कर हो जाया करती है। अद्वैतवादी दार्शनिक इसे आत्मज्ञान की संज्ञा देते हैं और सूफी इसी को 'फना' की स्थिति से व्यक्त किया करते हैं। इसके आगे की अवस्था अन्तिम दशा वह स्थिति है जब साधक के जीवन में पूरी काया पलट हो जाती है और वह सिद्धावस्था को पहुँच जाता है। अद्वैत-वादी लोग इसी को 'जीवनमुक्त की दशा' कहा करते हैं और कबीर साहब ने यहाँ तक पहुँचे हुए महापुरुषों को ही 'सन्त' नाम से अभिहित किया है।'' (कबीर साहित्य की परख पृष्ठ ११६)। मेरे मत से पहले उसमें ब्राह्म को जानने की जिज्ञासा होती है ''अथ ततो, ब्रह्म जिज्ञासा''—ब्रह्मसूत्र। फिर प्रेम पैदा होता है, तत्पश्चात् विरह की व्याकुलता पैदा होती है, जो आत्म साक्षात्कार तक बनी रहती है। चतुर्वेदी जी ने सूफियों की साधना का क्रमिक विकास दिखाया है पर सूफी जहाँ अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए बाह्य आलम्बन आवश्यक समझता है वहाँ कबीर किसी वाह्य आलम्बन की आवश्यकता नहीं समझते। उनका माशूक और आशिक उनकी अन्तरात्मा में ही है। उनकी सारी-प्रेम दशाएँ वहीं जागृत होती है, उठती हैं, और प्रिय-मिलन में समाप्त हो जाती हैं। वे कुण्डलिनी-योग के माध्यम से अपने 'राम' की ज्योति के दर्शन करते हैं और आनन्द-विभोर हो जाते हैं। उन्होंने जहाँ योगियों के बाह्याचार की निन्दा की है वहाँ उनके कुण्डलिनी योग की साधना को अपनाया है। क्षिति मोहन सेन का मत है ''कबीर की आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्वग्राही है। वह कुछ भी छोड़ना नहीं चाहती इसीलिए वह ग्रहणशील है, वर्जनशील नहीं है।'' इसीलिए उन्होंने हिन्दू, मुसलमान सूफी, वैष्णव, योगी आदि सब साधनाओं को जोर से पकड़ रखा है। उन्होंने हिन्दू-मुसलमानी कठमुल्लेपन पर तीखा प्रहार किया है।

''पांडे कौन कुमति तोहि लागी, तु राम न जपति अभागी।''

(अ) वेद पुरान पढ़त असि पांडे, खर चन्दन जैसे भारा।
राम नाम तत समझत नाहीं, अति पड़ै मुख छारा॥

(ब) काजी कौन कतेब बषानै, पढ़त पढ़त केते दिन बीते।
गति एकै नहिं जानै।

× × ×

मुल्ला कहाँ पुकारे दूरि राम रहीम रहया भरपूरि।
यह तो अल्ला गूंगा नांही, देखे खलक दुनी दिलमाही॥

जब वे अपने को 'हरि मेरा, मैं हरि की बहुरिया' कहते हैं तब वैष्णवों की माधुर्य भक्ति के रस में पगे दीखते हैं, पर जब वे अपने ब्रह्म को निर्गुण-सगुण से परे कहते हैं, तब वे बौद्ध नागार्जुन के 'शून्यवाद' के निकट जान पड़ते हैं। इसीलिए उन्हें किसी एक दर्शन सम्प्रदाय में निर्विवाद रखना कठिन है।

इस प्रकार हम देखते हैं, उनका ब्रह्म-साक्षात्कार भावात्मक और योगात्मक दोनों है। उनकी विचारधारा में आत्मा-परमात्मा के ऐक्य भाव के साथ-साथ परमात्मा और जगत् का ऐक्य भाव भी निहित है। इसे 'सर्ववाद' कह सकते हैं। कबीर में इस्लामी एकेश्वरवाद नहीं है, जो भौतिक है। वह जीव, जगत् और ईश्वर की भिन्न-भिन्न सत्ता मानता है। यदि जीवात्मा का परमात्मा से ऐक्य स्थापना का व्याकुल भाव ही रहस्यवाद है, तो उसका पूर्ण विकास कबीर में हमें मिल जाता है। परन्तु 'रहस्यवाद' का तत्व पूर्णतया वर्णित नहीं हो सकता, क्योंकि वह साधक की अनुभूति का तत्व है और जिसे वह स्वयं ठीक तरह से व्यक्त करने में असमर्थ है। उसे 'गूँगे का गुड़' कहते हैं।

"कहत कबीर यहु अकथ तथ है, कहता कही न जाई"

डॉ० रामकुमार ने रहस्यवाद की चार विशेषताएँ बतलायी हैं। पहली है—प्रेम का अबाध धारा-प्रवाह, दूसरी है धारा में आध्यात्मिक तत्व की स्थिति, तीसरी है वह जिसमें अध्यात्म्य भाव निरन्तर जागृत रहे और चौथी वह है जिसमें केवल भावना की ही प्रगति न हो, सम्पूर्ण हृदय की आकांक्षा उसी ओर आकृष्ट हो जाय। परन्तु ये चारों विशेषताएँ दो में ही अन्तर्भुक्त की जा सकती हैं—साधक का परमात्म सत्ता के प्रति अखण्ड आध्यात्मिक प्रेम और उसमें एकाएक हो जाने की व्याकुलता इन दो वृत्तियों की अभिव्यक्ति में काव्य का रहस्यवाद निहित है।

कबीर दास की साखी

कबीर साहित्य में 'साखी' का बड़ा महत्व है। जिस प्रकार श्लोक, दोहा, कवित्त समय-समय पर काव्य के पर्याय रहे हैं उसी प्रकार सन्त समाज में 'साखी' उपदेश का पर्याय समझी जाती रही है, और वह दो पंक्तियों की होती थी।

साखी संस्कृत 'साक्षिन्-साक्षी' का रूपान्तर है। (यह अक्षि अस्या 'साक्षाद् दृष्टा साक्षीया'-आप्टे कोश) संस्कृत साहित्य में आँखों से प्रत्यक्ष देखने वालों

के अर्थ में साक्षी का प्रयोग हुआ है। कालिदास ने कुमार सम्भव ५, ६० में इसी अर्थ में इनका प्रयोग किया है—

"द्रुमेषु संख्या कृत जन्मसु स्वयं फलं तपः साक्षिषु द्रष्टमेष्वपि ।"

सिध्दों के अपभ्रंश साहित्य में भी प्रत्यक्षदर्शी के रूप में साखी का प्रयोग हुआ है। यथा—

'साखि करब जालंधर पाय' (सिद्ध कण्हपा)

आगे चल कर सम्भवत: नाथों के समय से गुरु-वचन ही साखी कहलाने लगे। पण्डित परशुराम चतुर्वेदी का यह अनुमान ठीक जान पड़ता है कि 'इन साखियों की रचना की परम्परा गुरु गोरखनाथ आदि जोगियों के अविर्भाव काल से प्रारंभ हुई है।.........खोज में कभी-कभी 'जोगेश्वरी साखी' जैसे पद्य-संग्रह मिल जाते हैं।'

आधुनिक देश-भाषाओं में साखियों का व्यापक प्रचार निस्सन्देह कबीर द्वारा हुआ। नाथ-परम्परा के अनुसार ही गुरु-वचन या उपदेशात्मक रचनाएँ साखी के नाम से अभिहित होने लगीं। कबीर ने उन्हें 'ज्ञान की आँखें' कहा भी है। कबीर के पूर्व नामदेव का प्रादुर्भाव हुआ है, क्या उन्होंने भी इसका प्रयोग किया है ?

नागरी प्रचारिणी सभा में नामदेव जी की साखी नाम की जो हस्तलिखित प्रति मिली है उसका संकलन उत्तर भारत—सम्भवत: पंजाब में, कबीर के बाद ही हुआ होगा। महाराष्ट्र के नामदेव की वाणी 'पद' या 'अभंग' ही कहलाती है—साखी नहीं पर बाद के सन्तों ने पाक्या (साखी) लिखी हैं।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार दादू दयाल के शिष्य रज्जब ने अपने गुरु की साखियों को अंगों में विभाजित किया। रज्जब का काल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी है—कबीर के लगभग सौ वर्ष बाद। 'कबीर वचनावली' में साखिएँ विभिन्न अंगों में पायी जाती हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि 'कबीर वचनावली' का संग्रह रज्जब के पश्चात् हुआ। कबीर ने तो 'मसि कागद छुयो नहीं'। अत: सम्भावना यही है कि उनके परवर्ती शिष्यों ने अपने गुरु की साखियों अथवा सिखावनों को विभिन्न अंगों में विभाजित किया होगा। इनमें कबीर शिष्य धर्मदास का नाम लिया जा सकता है। ये कबीर पन्थ की छत्तीसगढ़ी शाखा के संस्थापक हैं।

साखी का छन्दों में प्रयोग--साखी अपभ्रंश काल में बहुप्रचलित छन्द 'दूहा' (दोहा) में लिखी जाती रही है। अत: दूहा का पर्याय भी समझी जाती

रही। परन्तु तुलसीदास के समय तक वह दोहा का पर्याय नहीं रह गयी। इसी से तुलसीदास ने उसे दोहरा से पृथक कहा है।

"साखी सबदी, दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं अधम कवि, निंदहिं बेद-पुराण।"

तुलसीदास का समय सोलहवीं शताब्दी है। प्रतीत होता है, कबीर के समय से अथवा उनसे भी पहले से साखी दोहा के अतिरिक्त चौपाई, चौपई, सार, छप्पय, हरिपद आदि छन्दों में भी लिखी जाने लगी थी। 'गुरु ग्रन्थ साहब' में साखी को सलोकु कहा गया है।

मराठी-साहित्य में भी हिन्दी के प्रभाव से 'साकी' या साखी का चलन हो गया था। वहाँ भी पहले वह दोहरा छन्द में लिखी जाती थी, पर क्रमशः अन्य छन्दों में भी प्रयुक्त होने लगी। तुलसीदास के समान मराठी सन्त स्वामी रामदास ने भी अपने प्रसिद्ध 'दासबोध' में उसकी अन्य काव्य-प्रकारों से पृथक गणना की है—

"नाना पदें, नाना श्लोक, नाना बीर, नाना कड़क,
नाना साख्या—दोहरे अनेक, नामाभिधान।"

डॉ० ना० ग० जोशी ने अपनी मराठी 'छन्दो रचना' में किसी भी लय-बद्ध उक्ति का नाम 'साखी' निरूपित किया है। निष्कर्ष यह है कि 'साखी' के लिए किसी छन्द विशेष में बँधना आवश्यक नहीं है—आवश्यक है किसी उक्ति की लयमय अभिव्यक्ति।

कबीर की साखियों को सम्पादकों ने विषयानुसार विभाजित कर दिया है। 'कबीर ग्रन्थावली' के नागरी प्रचारिणी सभा संस्करण में साखियाँ ५७ विषयों में विभक्त की गयी हैं। सन्त वांगमय में गुरु को सर्वाधिक महत्व दिया गया है, क्योंकि सतगुरु ही साधना के उस पथ पर ले जाता है, जो विरहिणी आत्मा को परमात्मा से मिलाने में सहायक होता है। कबीर का विश्वास है कि गुरु भी तभी मिलता है जब गोविन्द की कृपा होती है। जब सतगुरु प्रसन्न होता है तब हृदय की सब मनः कामनाएँ पूरी हो जाती हैं—हृदय परमात्म-प्रेम से सराबोर हो जाता है।

"सतगुरु हम सूरीझि करि एक कहा परसंग।
बरस्या बादल प्रेम का भीजि गया सब अंग।"

सन्त नाम-स्मरण पर बल देते हैं, वे सारे उपदेश का सार रामनाम ही मानते हैं। यों कबीर ने हरि, विट्ठल, गोविन्द आदि नामों से भी परमात्मा

का स्मरण किया है, पर राम-नाम उन्हें बहुत प्रिय है, क्योंकि रामानन्द के शिष्य होने से गुरु और परमात्मा दोनों राम में समाहित हो जाते हैं। कबीर की यह साखी बड़ी प्रचलित है—

"लूटि सकै तो लूटियौ, रामनाम है लूटि।
पीछे ही पछिताहुगे, यह तन जैहै छूटि।।"

निर्गुणियों का विश्वास है कि आत्मा परमात्मा से बिछुड़ कर व्याकुल होती रहती है। व्याकुलता में ही उस परमप्रिय की प्राप्ति होती है। सम्भवतः इसी भाव-भूमि पर पहुँचने पर आंग्ल कवि शैली ने कहा था—'हमारे वे ही भाव अत्यन्त मधुर होते हैं जिनमें करुणा का स्वर होता है।' कबीर कहते हैं—

"हंसि हंसि कंत न पाइए, जिनि पाया तिनि रोइ।"

कबीर सारे संसार को विरह में जलता हुआ देखते हैं। वन-उपवन-सागर सभी में मानों आग लगी हुई है—

"समन्दर लागी आगि, नदिया जलि कोइला भई।"

प्रिय से परिचय कब होता है? कबीर कहते हैं—

"सुरति समाणी निरति में, निरति रही निरधार
सुरति-निरति परचा भया, तब खुले स्वयं दुवार।"

कबीर मर्मज्ञों में सुरति-निरति शब्दों के अर्थ में मतैक्य नहीं है। 'सुरति' शब्द कबीर ने ही नहीं, दादू आदि और निगुणियों ने भी प्रयुक्त किया है। डॉ० बड़थ्वाल का कथन है कि यह स्मृति शब्द से निकला है। स्मृति चित्तवृत्तियों का प्रवाह ही है। डॉ० सम्पूर्णानन्द न इसकी उत्पत्ति स्रोत से लगाई है जिसे चित्तवृत्तियों का प्रवाह मानना चाहिये। कुछ विद्वान इसका अर्थ सुरति या गहरा प्रेम से भी लगाते हैं। राधास्वामी सम्प्रदायी इसे 'जीवात्मा' का पर्याय समझते हैं। पं० परशुराम चतुर्वेदी इसे शब्दोन्मुख चित्त समझते हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा इसका अर्थ 'आदि ध्वनि' लगाते हैं। माधवप्रसाद इसे स्वरति अर्थात आत्मरति समझते हैं। निरति को सुरति की चरमावस्था कहा गया है। जब तक स्मृति सधन नहीं बनती तब तक वह निरति की ही अवस्था में रहती है। परशुराम जी निरति का 'निरवलम्बावस्था' अर्थ करते हैं। क्या निरति को रतिहीन या शून्यावस्था मान कर यह अर्थ नही कर सकते कि जब परमात्मा की स्मृति जो रतिपूर्ण है, शून्य की ओर उन्मुख हो जाती है, जब प्राण ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंच जाते हैं तब 'वज्र-किवार'—स्वयं खुल जाते हैं और उस ब्रह्म-ज्योति का सहज साक्षात्कार हो जाता, ऐसी

स्थिति में मुखर जाप (बैखरीवाणी) अजाप (अमुखर) बन जाता है, उसकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती, साधक साध्य में समा जाता है, । 'दुइ' रह ही नहीं जाती—

"सुरति समाणी निरति में, अजपा माहै जाप
लेख समाणा अलेख में, पर आपा माहै आप ।"

उस परमज्योति के प्रकाश से सहस्राधार कमल जगमगा उठा, अनहद नाद होने लगा (तुरही बजने लगी) और अब सब अज्ञान-अविद्या-माया की अंधेरी दूर हो गयी—

"कबीर कवल प्रकासिया, उग्या निर्मल सूर
निस अंधियारी मिटि गई, वागै अनहद तूर ।"

कबीर की साखियों में कुण्डलिनी-योग का कई स्थलों पर वर्णन है । जहाँ हठयोग की कष्टसाध्य क्रियाओं से परमज्योतिक दर्शन के संकेत है वहाँ नामस्मरण-प्रेमाभक्ति की सहज साधना भी निर्दिष्ट है—

"राम रसायन प्रेम रस पीवत अधिक रसाल,
कबीर पीवण दुलभ है, माँगे सीस कलाल ।"

हरि-रस पीने वाले की खुमारी कभी नहीं जाती—

"हरि-रस पीया जाणिये, जे कबहूँ न जाइ खुमार ।
मैं मंता घूमत रहे नाही तन की खार ।"

वे हरि का कान्ता-भाव से स्मरण करते हैं—'हरि मेरा पिउ, मैं हरि की बहुरिया' तभी कहते हैं—

"नैना अंतरि आव तूं, ज्यू हौं नैन झपेउ ।
ना मैं देखूं और कूं, ना तुझ देखन देउं ।"

निष्काम भक्ति का ही व उपदेश देते हैं—

"जब लगि भगति सकामता, तब लगि निर्फल सेव
कहै कबीर वै क्यूं मिलें, निहकामी निज देव ।"

यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि ज्ञानमार्गी सन्तों का भक्ति से तनिक भी विरोध नहीं है...वे भी प्रेम तत्व का तिरस्कार नहीं करते । अतः निगुणियों और सगुणियों में केवल साधना पक्ष में ही भेद है और वह भी बहुत कम । निर्गुणी अगुण प्रतीक के प्रति आत्मनिवेदन करता है और सगुणी सगुण-प्रतीक को अपनाता है । यों प्रस्तर-प्रतिमा में भी आलम्बन पत्थर

ही है—पत्थर के प्रति परमात्म-भावना है जो निर्गुण ही है—अदृश्य ही है। इसी से निगुणियों को सन्त और सगुणियों को भक्त कह दोनों को पृथक करना उचित नहीं है। प्रतिमा में परमात्मा को अवतरित करना निगुणियों की वायवी साधना से अधिक गहन और उच्च है। जड़-चेतन में एक ही का स्पन्दन अनुभव करना बड़ी ऊँची साधना है। प्रत्येक प्राणी में परम तत्व की अनुभूति सन्तों का परम साध्य है। वह उस परम तत्व को घट में भी अनुभव कर सकता है, जो ज्ञानमार्गी सन्तों का ध्येय रहा है। सगुणी दोनों मार्गों का महत्व स्वीकार करता है।

दोनों पन्थ के साधकों ने 'माया' की, जो मोह, लोभ ईर्ष्या आदि विकारों को जन्म देने वाली वृत्ति है, निन्दा की है। कबीर कहते हैं—

"कबीर माया डाकिनी, सब किस ही को खाइ।"

कबीर ने जहाँ अपनी साखियों में अध्यात्म जीवन को उन्नत करने के उपदेश दिये है वहाँ उन्होंने व्यवहार ज्ञान भी उनमें भरने का प्रयत्न किया है। वे कहते हैं कि मनुष्य को कहना नहीं, करना चाहिये।

"कथणी कथी तो क्या भया, जै करणी न ठहराय।"

वे पोथी-पढ़न्त पण्डितों के प्रशंसक नहीं है, क्योंकि जिस ज्ञान से परमात्मा में प्रेम नहीं उत्पन्न होता वह व्यर्थ है—

"पोथी पढ़ि पढ़ि जगमुवा, पंडित भया न कोई।
एकै आखर पीव का पढ़े तो पंडित होई।"

मनुष्य को सदाचारी बनना चाहिये, वे पर नारी के प्रति प्रेम को सबसे बड़ा अवगुण मानते हैं, क्योंकि इससे समाज की व्यवस्था भग होती है—कलह-हिंसा उपजती है। इन्द्रियों पर संयम रखने से ही मनुष्य सुखी होता है।

'सहज' की व्याख्या कबीर ने बहुत सहज बना दी है। जिस साधना से सहज ही हरि मिल जाते हैं वही साधना सहज है।

कबीर को मांस, मदिरा और पापाचार से बड़ी घृणा है—

"पापी पूजा बैसि करि, भषै मांस मद दोई।
तिनकी दष्या मुकति नहीं कोटि नरक फल होई॥"

स्थूल पाहन-पूजा का विरोध उन्होंने किया है। (पाहन कू का पूजिए) पर पाहन में साक्षात् परमात्मा के दर्शन करने वाले वैष्णव के प्रति उनकी आस्था है, श्रद्धा है। वामाचारी शाक्तों से उन्हें बड़ी विरक्ति है। आडम्बर से, वह

चाहे-भक्ति के क्षेत्र में हो, चाहे व्यवहार-जगत् में, कबीर ने कभी समझौता नहीं किया—

'कबीर माला काठ की, कहि समझावै तोहि ।
मन न फिरावै आपणां, कहा फिरावै मोहि ।

सत्संग की महिमा सभी सन्तों ने गायी है। (कबीर संगति साधु की कभी न निरफल होई) । कुसंगति को उन्होंने अपकर्षक माना है । वे मिठबोलों से साव-धान करते हैं—

"जेता मीठा बोलणां तेता साध न जाणि"

यद्यपि कबीर असाधु और पाखण्डियों का बड़ी तीखी भाषा में स्मरण करते हैं, पर सन्तों के सामने बहुत विनम्र बन जाते हैं । वे कहते हैं —

"कबीर चेरा संत का, दासनि का परदास ।
कबीर ऐसे ह्वै रह्या ज्यूँ पाउं तलि घास ।।"

यदि मनुष्य संसार में किसी से आशा न रखे तो वह जीवन-मुक्त हो सकता है । ऐसे व्यक्ति की संज्ञा कबीर ने 'जीवन मृतक' से दी है । हो सकता है यह शब्द 'जीवन मुक्त' हो । लेखक के प्रमाद से 'मुक्त' का 'मृतक' हो गया हो ।

सारांश यह है कि कबीर की साखियों में जो उपदेश निहित हैं वे उनके अनुभवों का सार है । यह सत्य है कि वे जीवन के समस्त व्यापारों में हरि-भक्ति पर ही बल देते हैं, क्योंकि यही उनकी साधना है और यही साध्य भी है। उपदेशों में मायावी जगत से पलायन की ध्वनि स्पष्ट सुन पड़ती है। कबीर एक ऐसे आदर्श समाज की कल्पना करते हैं जिसमें मनुष्य एक-दूसरे के प्रति सदय हो, निष्कपट आचरण करे और सात्विक, सन्तोषी जीवन व्यतीत करे । जिस युग में कबीर का प्रादुर्भाव हुआ था, समाज धर्म के आधार पर स्थित था । अतः उसके सच्चे रूप को उद्घाटित करने के लिए ही कबीर ने अपनी अनुकृतियों को साखी में पिरोने का प्रयत्न किया है ।

× × ×

साखी के अतिरिक्त कबीर ने कई लोकछन्दों का प्रयोग किया है; उनमें सबदी, रमैनी, बावनी, चौंतीसा, थिन्ती, वार, चाचर, हिंडोला, कहरा (ककहरा), बेलि, विरहुली, विप्रमतीसी आदि का प्रयोग किया है ।

सबदी—गुरु-वाणी होती है जिसमें ब्रह्मज्ञान समाया होता है। 'शब्द' ब्रह्म से ही संसार की सृष्टि हुई है। अतः शब्द 'ब्रह्म' ही है।

रमैनी—(रामायण का अपभ्रंश है) दोहे-चौपाइयों के मेल से रमैनी बनती है।

बावनी—नागरी के ३२ अक्षरों को ले कर प्रत्येक पंक्ति के प्रारम्भ में एक-एक अक्षर ले लिया जाता है।

चौंतीसा—स्वरों को छोड़ दिया जाता है, शेष क्रम बावनी जैसा ही होता है।

थिन्ती—प्रत्येक तिथि से पंक्ति प्रारम्भ की जाती है।

बार—इसमें बार क्रम से पद रचे जाते हैं।

चाचर—बसंत-गीत है, ताल-लय के साथ गाया जाता है।

हिंडोला—झूले का गीत है।

विरहुली—सर्प-विष उतारने का गीत है।

विप्रमतीसी—विप्र की मति जगाने वाली बानी।

अवधूत

कबीर ने 'अवधूत' को कई बार संबोधित किया है। 'गोरक्षसिद्वान्त' संग्रह में अवधूत की परिभाषा दी है—

क्वचिद्योगी, क्वचित् त्यागी, क्वचित् नग्न-पिशाचवत्, क्वचित् राजा, क्वत्चारी स: अवधूतो विधीयते।—पृ० १०

जो व्यक्ति संसार और सांसारिकता से विरक्त भाव रखता है, जो परमात्मा के चिन्तन में निरन्तर रहता है और विभिन्न वेशभूषा, भाव-भंगी में रहता है, उसे अवधूत कहा जाता है। तान्त्रिक अवधूतों की चार श्रेणियाँ हैं—(१) ब्रह्मावधूत, (२) शैवावधूत, (३) भक्तावधूत और (४) हंसावधूत। चतुर्थावस्था प्राप्त अवधूत पूर्ण सिद्ध समझा जाता है। कबीर 'अवधू' को गगनमण्डल का निवासी कहते हैं —'अवधू गगन मंडल पर घर कीजे।' याने वह कुण्डलिनी-योग का साधक है, जो सहस्रार में प्राणों को चढ़ा कर अमृतरस का पान किया करता है। सन्तों ने विशिष्ट प्रकार के योगी को 'अवधू' या 'अवधूत' कहा है।

शब्द-सुरति-योग

शब्द ब्रह्म का प्रतीक है। [तस्यवाचक, प्रणव, पंतजलि]। सुरति का अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से लगाया गया है। बड़थ्वाल इसकी उत्पत्ति 'स्मृति' से, डॉ० हजारी प्रसाद जी 'अन्तर्मुखी वृत्ति' से और सम्पूर्णानन्द जी 'स्रोत' से मानते हैं, और आचार्य क्षितिमोहन सेन ने उसका 'प्रेम' अर्थ लगाया है। पर कबीर ने एक साखी में सुरति और प्रेम का अलग प्रयोग किया है। 'सुरति ठीकुली लेज

लेतु मन, नित ढोलन हार। कमल कुआँ में प्रेम रस पीवे बारम्बार।' त्रिगुणायत ने उसे बहिर्मुखी आत्मा कहा है। पर 'आत्मा' की बहिर्मुखी कल्पना कैसे हो सकती है। उसे बहिर्मुखी वृत्ति कहना उचित होगा। हमारे विचार से 'सुरति' का प्रसंगानुकूल अर्थ ग्रहण करना चाहिये। कहीं वह बहिर्मुखी, कहीं अन्तर्मुखी और कहीं प्रेम भाववाचक अर्थ बोधक हो सकती है।

"सुरति समानी निरति में निरति यह निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्वयं पुकार।"

में सुरति आत्मा और निरति परमात्मा के अर्थ में प्रयुक्त जान पड़ती है।

कबीर में कवित्व

कबीर की साखियों और पदों में काव्य-प्रौढ़ता का अनुसन्धान व्यर्थ है। कबीर कवि नहीं थे, सन्त थे। सामाजिक परिवेश से उद्भूत अपनी अनुभूति को सहज भाव से व्यक्त करते रहते थे। वे न तो पढ़े थे, और न पढ़ने की आवश्यकता मानते ही थे। कहते हैं—

"पोथी पढ़ पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े, तो पंडित होय॥"

[कहीं-कहीं 'ढाई अक्षर' के स्थान पर 'एकै अक्षर' भी मिलता है।]

वे उसी को पण्डित मानते हैं, जिसके हृदय में परमात्मा का प्रेम जागृत हुआ है। आध्यात्मिक साधना के आत्मा, जीव, जगत, ब्रह्म आदि के आत्मानुभावों को अभिव्यक्त करने के लिए सामान्य भाषा के शब्द असमर्थ हो जाते हैं। अतः उनके लिए सामान्य भाषा के शब्दों को प्रतीकों का रूप लेना पड़ता है जो कबीर ने किया है। कबीर के पूर्ववर्ती साधकों ने और ऋषियों ने भी प्रतीक के प्रयोग किये हैं। ऋग्वेद से ले कर नाथ सम्प्रदाय के साधकों की वाणियों में हमें भिन्न-भिन्न भावों के लिए भिन्न-भिन्न प्रतीक प्रयुक्त मिलते हैं। कबीर ने कई बार एक ही भाव के लिए एक से अधिक प्रतीक शब्दों का प्रयोग किया है। यह शब्द कबीर के समकालीन वज्रयानी, सहजयानी, नाथ पन्थी, वैष्णव, साधकों के समाज में प्रचलित थे। परन्तु कबीर ने वे प्रसिद्ध प्रतीक उसी अर्थ में हर बार ग्रहण नहीं किये, उनमें अपना अर्थ भरा।

प्रतीकों के अतिरिक्त कबीर ने उपमा, रूपक, विरोधाभास आदि अलंकारों को अबाधित रूप में प्रयुक्त कर दिया है। हमें कबीर के वचनों में उनके विचारों और भावों का ही अन्वेषण करना चाहिये और उनका उन्हीं के आधार पर मूल्यांकन करना चाहिये।

दादू दयाल

कबीर की मत-परम्परा में नानक के बाद दादू का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। इनकी जन्मतिथि फाल्गुन शुक्ला द्वितीया सम्वत् १६०१ मानी जाती है और स्थान के विषय में मतैक्य नहीं है। पं० सुधाकर द्विवेदी उत्तर प्रदेश का जौनपुर और पं० चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी अहमदनगर सिद्ध करना चाहते हैं। उनकी वाणियों की भाषा में पश्चिम की भाषाओं—गुजराती, सिन्धी और राजस्थान से लगे पंजाब प्रान्त के शब्दों के आधिक्य से हम अहमदाबाद या उसके सन्निकट किसी स्थान का उनका जन्मस्थान मान सकते हैं। इनकी जन्म-गाथा और माता-पिता के सम्बन्ध में कबीर के समान ही किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है, ये साबरमती में शिशु-रूप में बहते जा रहे थे। दयावश लोदी राम नामक नागर ब्राह्मण ने इन्हें निकाल कर पाला। पन्थी-मान्यता के आधार पर—इन्हें ब्राह्मण कहा है, पर अन्य विद्वान् इन्हें धुनिया कहते हैं, जो पिंजारा, भी कहलाती है। पर पिंजारा जाति मुसलमान होती है। स्वामी दयानन्द ने इनकी जाति 'तेली' कही है जिसका समर्थन ईसाई मिशनरी डॉ० आर० भी करते हैं। वे 'पिंजारा' को 'पीणारा' का पर्याय मानते हैं जिसे राजस्थान में तेल पेरने वाले को कहते हैं, पर मध्यप्रदेश में 'पिंजारा' धुनिया को कहते हैं और यह जाति मुसलमान होती है। क्योंकि उनके शिष्य भी उन्हें 'धुनिया' ही कहते हैं, अतः हमें उन्हें धुनिया मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। कबीर के सम्बन्ध में जिस प्रकार यह धारणा रही है कि उनके कोई भौतिक प्राणी गुरु नहीं थे, परमात्मा ही उनके गुरु थे, उसी प्रकार इनके गुरु के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं प्राप्त होता। कहते हैं, परमात्मा ने ही दीक्षा दी थी। एक दूसरी धारणा यह है कि कोई वृद्धानन्द ने बचपन में ही इनके मुँह में पीक डाल दी थी जिससे इनकी बुद्धि जागृत हो गयी और परमात्मा में लौ लगने लगी। जरा बड़े होने पर उन्हीं ने इन्हें दीक्षित किया। इन्हें सन्त-मत में 'गुरु गोविन्द' के समान माने जाते हैं। अतः यदि वृद्धानन्द को 'गोविन्द' ही कह दिया गया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। इन्होंने गृहस्थ-जीवन व्यतीत किया, इनके तीन पुत्र तथा दो पुत्रियाँ थीं, इनके पुत्रों में 'गरीबदास' ने इन्हीं से दीक्षा ली थी।

यद्यपि दादू अधिक शिक्षित नहीं थे फिर भी भ्रमणशील होने के कारण उन्हें कई भाषाओं का ज्ञान हो गया था। उनके पदों में राजस्थानी, गुजराती, खड़ी बोली, पंजाबी, व्रज आदि भाषाओं के शब्द प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। सन्त-साधु संगति में नियमित रूप से अध्ययन करने पर भी प्रचलित दर्शनों

और धार्मिक परम्पराओं से परिचित हो जाते हैं। यही कारण है कि वे शब्द तो परम्परा से ग्रहण कर लेते हैं, पर उनके अर्थ को भूल कर अपना ही प्रसंगानुसार अर्थ दे देते हैं। दादू ने राजपूताना, पंजाब और मध्यप्रदेश के कई स्थानों का भ्रमण किया था। उनकी समाज में इतनी अधिक प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि थी कि उन्हें अकबर ने भी आमन्त्रित किया था। कहा जाता है, इनके १५२ शिष्य थे। इनकी मृत्यु नराना में सम्वत् १६६० में हुई और इनके शिष्य तथा पुत्र गरीब दास ने इनकी गद्दी संभाली। इनके शिष्यों में गरीबदास के अतिरिक्त रज्जब जी, सुन्दरदास, जगजीवन, वाजिदजी, बसना, जयगोपाल आदि प्रमुख हैं।

जिस प्रकार नानक ने अपने जीवन-काल में अपना पन्थ चलाया उसी प्रकार दादू ने भी अपने जीवन-काल में अपना पन्थ चलाया, जो ब्रह्म समाज, पर ब्रह्म समाज और अन्त में दादू पन्थ के नाम से प्रचलित हुआ। दादू सांभर में रहने लगे तब उनके भक्त उनके पास 'उपदेश' ग्रहण करने तथा आध्यात्मिक चर्चा के लिए प्राय: बड़ी संख्या में आने लगे। सम्भवत: शिष्यों और भक्तों के आग्रह से उन्होंने एक संस्था के स्थापना की बात सोची हो, जिसने बाद में पन्थ का रूप धारण कर लिया हो। उनकी मृत्यु के पश्चात् वह कई उपपन्थों में विभाजित हो गया। उनमें पाँच प्रमुख हैं—(१) खालसा नराले की गद्दी से सम्बद्ध है जहाँ दादू का शरीरान्त हुआ था। यह पन्थ दादू के उपदेशों और आचार-धर्म का निष्ठा के साथ पालन करता है। इनका लक्ष्य अध्ययन-अध्यापन, आराधन होता है। इसकी शाखाएँ जोधपुर, जयपुर, अलवर आदि स्थानों में है। (२) विरक्त पन्थी भ्रमण करते रहते हैं। दादू जी के उपदेशों का प्रचार करते हैं। द्रव्य का हाथ से स्पर्श नहीं करते, वस्त्र भी धारण नहीं करते। (३) उत्तरार्ध पन्थी वे हैं, जो राजस्थान के बाहर पंजाब आदि स्थानों में बस गये हैं। ये अध्ययन-मनन में लीन रहते और वैद्यक का व्यवसाय भी करते हैं और लौकिक-दृष्टि से भी सम्पन्न हैं। (४) खाकी पन्थी भ्रमणशील होते हैं। तपस्वियों के समान ही नग्न रहना पसन्द करते हैं। (५) नागा-पन्थ बड़े सुन्दरदास द्वारा स्थापित किया गया है, जो सादगी से रहता है पर सैनिक का कार्य करता है। इनके अनेक धामे द्वारे हैं। राज्य की सहायता करने को तत्पर रहते हैं। राज्य के 'कर' की वसूली में भी इनका राज्य प्रयोग करता है।

दादू का सिद्धान्त-पक्ष

दादू का सिद्धान्त कबीर-सिद्धान्त से भिन्न नहीं है। उन्होंने स्वयं कहा है — 'जो था कन्त कबीर का सोई वर बरिज्ञ। मनसा वाचा क्रमना मैं और न करिज्ञ।' इस साखी से यह प्रतीत होता है कि दादू ने लौकिक दृष्टि से भले ही किसी

जीवित व्यक्ति को गुरु बनाया हो, पर आध्यात्मिक दृष्टि से उन्होंने कबीर को ही अपना 'गुरु' स्वीकार कर लिया था। एक जगह वे और कहते हैं—"साँचा सबद कबीर का मीठा लागै मोई, दादू सुणतां परमसुष, केता आनंद होई।" कबीर ने जिस प्रकार चराचर में एक ही सत्ता का अनुभव कर उसे राम, हरि, गोविन्द आदि शब्दों से अभिहित किया था उसी प्रकार दादू ने भी एक ही ब्रह्म की निर्गुण भाव से आराधना की है—

"दादू साहब 'सुनि' सब ठौर है, सब घट सब ही माहि।
तहाँ निरंजन राम रह्या कोई गुण व्यापै नाहिं॥"

कबीर के समान दादू भी अनहद नाद सुनते हैं :—"दादू तिस सरवर तीर संगी सबै सुहावणे' तहाँ बिन कर बाजै बेन, जिव्याहीये ये गावणै"। दादू 'सहज' को प्राकृतिक जीवन से बाँधते हैं। "सहज सबब मन का भया, तब दादू एकै संग। ताता सीला सम भया, तब दादू एकै अंग।" दादू सुख-दुख नहीं मानते। स्थितप्रज्ञ की तरह उनसे परे रहते हैं, केवल 'राम' के प्रेम में रत रहते हैं। दादू प्रेम-रस में सना रहना ही पसन्द करते हैं। सृष्टि का मूल कारण वे लीला-मय ब्रह्म मानते हैं। दादू पोथी-ज्ञान की अपेक्षा अनुभूति को महत्व देते हैं।

"दादू पाणी मांहे पैसि करि देवैं दृष्टि उघाड़ि।
जला बिंब सब भरि रहा ऐसा ब्रह्म विचारि॥"

जिस प्रकार सरोवर में डुबकी लगा कर आँख खोलने पर जल ही जल दिखायी देता है उसी प्रकार ब्रह्म भाव में लीन होने पर सर्वत्र ब्रह्म दिखायी देता है। यह अद्वैतभाव भी उन्हें कबीर से ही प्राप्त हुआ है। इस तरह हम 'दादू' में कबीर से भिन्न कोई दार्शनिक तत्व नहीं पाते। उनमें कबीर से एक बात में भिन्नता है। वह यह कि जहाँ वे 'निरंजन-राम' को महत्व दे, उसी का ध्यान करने का उपदेश देते हैं, वहाँ वे निर्गुण भक्ति के प्रति प्रहार नहीं करते। उनकी वाणियों में कबीर के समान तीखापन नहीं है। सामाजिक असमानता बाह्याचार आदि के प्रति विरोध तो वे प्रकट करते हैं, पर भाषा में कोमलता है। दादू ने साखी और पदों में ही अपनी बानी बाँधी है। उनमें उनकी भाषा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समान सधुक्कड़ी है जो 'कबीर' और अन्य सन्तों की परम्परा में है। कबीर की भाषा का उल्लेख करते हुए महाराष्ट्र के सन्त-चरित लेखक महीपति बुआ ने १७वीं शताब्दी में लिखा था—"कबीर बोले हिन्दुस्तानी देशभाषा आपुनी।" महाराष्ट्र में मिली-जुली खड़ीबोली को हिन्दुस्तानी और ब्रजभाषा को ग्वाल्हेरी कहने की परिपाटी रही है। दादू ने गुजराती,

सिंधी, राजस्थानी, पंजाबी आदि शब्दों को खड़ीबोली में मिश्रित करने का प्रयत्न कर उसे 'देशभाषा' का रूप अपने आध्यात्म गुरु कबीर के भाँति ही दिया था। सन्तों की वाणी में काव्य की खोज नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वे कवि नहीं, अध्यात्म साधक और मत-प्रचारक रहे हैं।

फिर भी दादू के कुछ पदों में अलंकार की छटा दीख सकती है। कहीं-कहीं सांगरूपक भी सध गये हैं। उक्ति और सूक्तियों में ही सन्तों की वाणी आबद्ध रहती है।

× ×

दादू पन्थ में प्रारम्भ में वर्ण-व्यवस्था को मान्यता नहीं थी, पर बाद के उप-पन्थों में जाति-भेद प्रचलित हो गया। ब्राह्मणों को ही दादू की 'वानी' पढ़ने का अधिकार दिया गया। शूद्र २४ गुरुमन्त्र और २४ शब्द पढ़ सकते थे। पन्थ में अन्त्यजों का प्रवेश भी निषिद्ध हो गया। पन्थानुगामी या तो गृहस्थ हैं या ब्रह्मचारी-संन्यासी। गृहस्थ 'सेवक' और संन्यासी 'दादूपन्थी' कहलाते हैं।

दादू द्वारों में दादू वाणियों की पोथी की सिक्खों के आदि ग्रन्थ के समान पूजा होती है। नराना में जहाँ दादू जी की प्रधान गद्दी है। वहाँ भी उनके पदों की पोथी की पूजा होती है।

● ●

तुलसीदास के महाराष्ट्रीय शिष्य
सन्त जन जसवन्त

गोस्वामी तुलसीदास के जीवन के सम्बन्ध में नित नूतन शोधकार्य हो रहा है। परन्तु अभी तक उनकी शिष्य-परम्परा की ओर ध्यान नहीं दिया गया। वे अपने जीवनकाल में ही समस्त भारतवर्ष में प्रसिद्ध हो गये थे। उनकी ख्याति से आकृष्ट हो देश के परमार्थ-साधक उनके दर्शन और उनका अनुग्रह प्राप्त करने के लिए उनके निकट पहुँचते थे। महाराष्ट्र के जन जसवन्त इसी प्रकार के साधक थे। इनके सम्बन्ध में महाराष्ट्र में भी बहुत कम अनुसन्धान हुआ है। मराठी के 'प्रसाद' मासिक और 'भारत इतिहास संशोधन मण्डल' की पत्रिका ने इनके सम्बन्ध में कुछ सामग्री प्रकाशित की है। मैंने धूलिया के श्री समर्थ वाग्देवता-मंदिर में इनकी अनेक अप्रकाशित रचनाएँ तथा जीवन-सम्बन्धी सामग्री जीर्ण-शीर्ण स्थिति में देखी थी। उसमें इनका मराठी के ओवी छन्द में पद्यबद्ध जीवन-चरित और इनके वंशज पुरुषोत्तम बुवा द्वारा कही गयी और किसी अज्ञात नाम व्यक्ति द्वारा लिखी गयी जीवनी विद्यमान है। धूलिया में जन जसवंत के एक वंशज जो शास्त्री कहलाते हैं और एक माध्यामिक शाला में अध्यापक हैं, मुझे मिले। अपने पूर्वज जन जसवंत के सम्बन्ध में वृद्ध स्वजनों द्वारा सुनीसुनाई बातों के आधार पर उनका कहना है कि आज भी उनके परिवार में परम्परा से तुलसीदास महाराज की आरती हिन्दी में गायी जाती है। स्वयं वे भी उसी परम्परा का पालन करते हैं। प्राचीन सन्त-चरित्र-ग्रन्थ 'मराठी भक्त-विजय' और 'भक्तलीलामृत' में इस सन्त के सम्बन्ध में अल्प परिचय मिलता है। इन सब स्रोतों से जो तथ्य मुझे प्राप्त हुए उन्हीं के आधार पर इनका परिचय यहाँ दिया जाता है। अन्य सन्तों के समान इनमें भी कतिपय अलौकिक घटनाएँ समाविष्ट हैं।

शिवाजी के उदय के पूर्व शक सम्वत् १५३० के लगभग नासिक जिले के बागलाण (वर्तमान खानदेश, बुरहानपुर, बागलाण आदि क्षेत्र) में प्रतापशहा नामक राजपूत राजा शासनारूढ़ था। उसकी राजधानी मुल्हेर की पहाड़ी पर थी। देशस्थ शुक्ल यजुर्वेदी ब्राह्मण जनार्दन पन्त इस राजा के पुरोहित तथा

राजनैतिक परामर्शदाता थे। जसवन्त इन्हीं के पुत्र थे। जसवन्त का बाल्यकाल किस प्रकार व्यतीत हुआ, इसकी विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। दस वर्ष की अवस्था में इनका विवाह कर दिया गया था। कहा जाता है कि प्रारम्भ में ये कुछ समय तक तुलसीदास के समान विषयांध बने रहे। फिर एक घटना घटी जिससे इनके नेत्र खुल गये। एक बार मुल्हेर के निकटवर्ती गणपतिपुर नामक गाँव में दो योगी आये। जसवंत उनकी ओर आकर्षित हुए। अपनी पत्नी से दही-भात बनवा कर नित्य प्रातः उनके पास जाने और दोपहर का भी बहुत-सा समय उन्हीं की सेवा में बिताने लगे। यह क्रम वर्षों तक अखण्ड रूप से चलता रहा। एक दिन जब वे नित्य के अनुसार दही-भात ले कर गणपतिपुर जा रहे थे, तब मार्ग में दो बटुक शिला पर बैठे दिखायी दिये। उन्होंने इनसे कहा कि हम बहुत भूखे हैं, हमें यह दही-भात दे दो। जसवन्त ने कहा, "यह भात मैं साधुओं को दे कर आता हूँ और घर जा कर तुम्हारे लिये ताजा भात तैयार करा कर लाता हूँ। तब तक तुम यहाँ से मत हिलना।" जब जसवन्त भात ले कर साधुओं के मठ में गये तब उन्हें वहाँ साधु नहीं दिखायी दिये जसवन्त ने उनकी बड़ी खोज की, पर उन्हें नहीं पा सके। अन्त में निराश हो कर अपने घर लौट पड़े। मार्ग में ये बटुकों को दही-भात देने का विचार करते जाते थे, पर जब उनके स्थान पर पहुँचे तो वे भी वहाँ से अदृश्य थे। यह दृष्य देख कर जसवन्त व्याकुल हो गये। इन्हें ऐसा भासित हुआ कि बटुकों के रूप में राम-लक्ष्मण ने ही दर्शन दिये थे। यह कल्पना मन में आते ही ये राम-लक्ष्मण के दर्शनों के लिए पागल हो उठे। इनकी भूख-प्यास जाती रही। घर छोड़ ये बन में चले गये और राम की खोज करने लगे। छः दिनों तक इन्होंने एक गुफा में बैठ कर राम की प्रार्थना की। सातवें दिन इन्हें उन्हीं दोनों बटुकों का पुनः साक्षात्कार हुआ। उन्होंने कहा कि "पंचवटी में जा कर एकान्त-साधना करो। वहाँ रामचन्द्र के दर्शन होंगे।" जसवंत पंचवटी में जा कर हरिकीर्तन करने लगे। जब साधना पूरी हुई तब इन्हें राम के दर्शन हुए। राम ने इनसे जब वर माँगने को कहा तब इन्होंने ये पंक्तियाँ कहीं—

> शेष से सुरेश से तुमेरे देखे दीन है
> काबीर कनोद कर्नाटक दच्छन
> चारों देश के राने मेरे लेखे तृण हैं।
> बैकुण्ठ तो बलाय जाय, स्वर्ग की तो परवाह नाय।
> और सब सुख छिन्न है।

कछु कहावे न भावे न मनमो आवे ।
श्री जानकी जीवन जल और जसवंत मीन है ।

भक्त के उद्गार सुन कर कहा जाता है कि भगवान् ने इन्हें यह उपदेश दिया कि 'ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती और गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता। अतएव तू उत्तर में जा कर गोस्वामी तुलसीदास को अपना गुरु बना और उनसे ज्ञान प्राप्त कर।' भगवान की यह आज्ञा मानकर जसवंत मुल्हेरी लौट गये और वहीं से सकुटुम्ब काशी की ओर चल पड़े। मार्ग में स्थान-स्थान पर हजारों स्त्री-पुरुष जसवन्त के दर्शन के लिए आते और जसवन्त हिन्दीभाषा में कीर्तन कर सबको प्रसन्न करते। काशी पहुँचने पर इन्होंने विश्वनाथ जी के दर्शन और गंगास्नान करने के पश्चात् तुलसीदास से भेंट करने की तैयारी की। उस समय तुलसीदास किसी गुफा में एकान्तवास और आत्मचिन्तन में अपना समय व्यतीत कर रहे थे। जसवन्त के आने की बात उन्हें स्वप्न में भगवान की प्रेरणा से विदित हो गयी थी। अतः जसवंत के पहुँचते ही उन्होंने इन्हें गुरु मन्त्र दिया। जसवंत ने अपने परिवार को विदा कर दिया और गुरु की सेवा में अकेले रहने लगे। कहा जाता है कि अपने गुरु तुलसीदास के साथ इन्होंने मथुरा की यात्रा की। मार्ग में दोनों गुरु-शिष्य भजन कीर्तन करते जाते थे। मथुरा पहुँच कर जब जसवंत ने तुलसीदास से श्रीकृष्ण के दर्शन की प्रार्थना की, तब तुलसीदास ने कहा—

मेरो नेम सुनो जसवंता
मेरो मन और नहिं लुभन्ता
राम बिना दसूँ नहिं कोई, राम बिना पसूँ नहिं कोई
फेरू नयन औ जो दसूँ, काटूँ कर और जो स्पर्सूं।

इसपर जसवन्त ने मराठी में उत्तर दिया—

जो राम तोचकृष्ण असे, यांत कांही संशय नसे।

[जो राम है वही कृष्ण है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।]

और कहा कि मैं आपको श्रीकृष्ण के मंदिर में ही राम के दर्शन कराऊँगा।

ऐसा कहकर जसन्वत तुलसीदास को कृष्ण-मंदिर में ले गये, वहाँ जा कर जसवन्त ने यह प्रार्थना की—

मोर मुकुट नीचे धरो, (और) किरिट मुकुट धरो शीस।
धनुक बाण करमो धरो, (गुरु) तुलसी नमावत शीस॥

जसवंत की प्रार्थना स्वीकार हुई। श्रीकृष्ण और राधा ने श्रीराम और सीता का रूप धारण कर तुलसीदासजी को दर्शन दिये। इसके पश्चात् गोकुल, वृंदावन, जगन्नाथपुरी आदि स्थानों के दर्शन कर गुरु और शिष्य अयोध्या पहुँचे जहाँ चार महीने रह कर पुनः काशी लौटे। इस यात्रा का उल्लेख कृष्णदत्त की 'गौतम-चन्द्रिका' में भी हुआ है।[१] कुछ समय बीतने पर तुलसीदास ने इन्हें अपने घर लौट जाने की आज्ञा दी और अपने गले की माला तथा एक पंचधातु की बनी हनुमान की मूर्ति प्रदान की।[२] गुरुप्रसाद ले कर जसवन्त अपने घर लौट आये। मार्ग में अनेक चमत्कारिक घटनाएँ भी घटीं। जब ये मुल्हेर लौटे तो जनता ने उत्साह के साथ इनका स्वागत किया और वहाँ इनके अनेक शिष्य बन गये।

एक बार मुल्हेर के राजा प्रतापशहा ने इन्हें अपने दरबार में बुला कर इनसे अपनी स्तुति में जब कुछ सुनना चाहा तब इन्होंने स्पष्ट कह दिया—

'नर गुण गाई खर मुख होई,
तू भूपति जैसो करे तैसो होई।'

और

'मी तो केला राम धनी
त्या बिन वर्णी न कोणासी।'

[मैंने तो राम को अपना स्वामी बनाया है। उनके अतिरिक्त मैं किसी का वर्णन नहीं करता।]

जब रानी ने भी इनसे गुण-वर्णन का आग्रह किया तो इन्होंने तत्काल कहा—

हरि थे विमुख भई वधू रानी।
पद नेपुर झुमके झमकावत, सब है अंजलि को पानी।

राजा ने क्रुद्ध हो कर इन्हें नजरबन्द कर दिया। थोड़े दिन के पश्चात् इन्होंने अपना जन्मस्थान त्याग दिया और पश्चिम खानदेश में ताप्ती नदी के किनारे बोरठे नामक गाँव में जा कर बस गये। वहाँ के गूजरों ने एक राम मन्दिर भी बनवा दिया। वहीं इन्होंने संवत् १६७४ (शक संवत् १५३९) के

---

१. देखिए, श्री विश्वनाथ मिश्र का लेख, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६० अंक १, पृष्ठ ५।

२. यह मूर्ति अभी भी 'कुकुरमूंडी' ग्राम में जन जसवन्त के वंशजों के पास है।

फाल्गुन शुक्ल पक्ष की अष्टमी को समाधि ले ली। इस सम्बन्ध में वहाँ निम्न-लिखित दोहा प्रचलित है—

'संवत् सोलसो चौओतरा रवितनया[१] के तीर।
फाल्गुन शुद्ध अष्टमी जसवंत त्यजे शरीर ।।

धूलिया के श्री समर्थ वाग्देवता मन्दिर में जन जसवन्त-सम्बन्धी जो सनदें हैं, उनकी प्रतिलिपि नीचे दी जाती हैं—

(१) श्री वालेर माहावीखम दूरंग महारा अध्यराज महाराणा श्री दूरंगबाजी बिजराज आदेशा मोजे आकलकुवो गाम दादा जी जसवंत जी ने राजे कृष्णार्पण कीधू छे जालगेवाले रनु राज रहे अम्हारा वंश महे गाम लो पोतेनीया उफेरे गधड़ो जाय रे।

सम्वत् १६५६ ज्येष्ठ शुद १३ खेड (रविवार)

(इस गुजराती सनद में उल्लिखित वालेर राज्य कुछ समय पूर्व बुधावल राज्य के नाम से पहचाना जाता था। शक १७४० में यह राज्य चन्द्रसिंह के आधिपत्य में था। इस सनद के द्वारा सन्त जसवन्त को आकलकुवां ग्राम दान में दिया गया है। यह ग्राम कुकुरमुंडी ग्राम से पश्चिम की ओर तीन कोस के अन्तर पर है। यह सनद भी समर्थ वाग्देवता मन्दिर धूलिया की हस्तलिखित पोथी क्रमसंख्या १५४० में है।)

(२) ।। श्री राम ।।

।। श्रीराज आदेश+खपशी

श्रीमाजोग्य+ वष्णुदास जी ने ये ग्राम आपूछे जेगाम कोड थारो छे माटे आज हे गाम कोडनपुर पूत य बाब जे होये+नलिया के अबाब शर्त साथे आपूछे माटे है गांम तफत पाटन फरणीका ।।

वदे १० सम्बत १६७६ ली

(यह सनद उपर्युक्त मंदिर की हस्तलिखित पोथी क्रम संख्या १८४० में नत्थी है। इसमें भी सन्त जसवंत के पुत्र विष्णुदास को एक ग्राम दान में देने का उल्लेख है। यद्यपि यह सनद गुजराती में है पर इस पर अंकित मुद्रा मराठी में है।)

(३) श्री दीवान महाराजा धीरराज महाराणा श्रीं दुरंगबाजी पटे

---

१. ताप्ती नदी

ऐनायत वीसणदास तम्होने चर्ण क्षाल स्वस्ती वचन कारी मौ पाणी-वास आपुछे चंद्रार्क लगे तुम्हे खावु देखील कुल बाब्र दीघु छे ।
कातीक सुद १ संद १६७८ मु—बेज

(कुकुरमुंडी से तीन कोस के अन्तर पर पाणीवास नामक ग्राम और उसी के पास बेज नामक ग्राम है । यह सनद सन्त जन जसवन्त के पुत्र विष्णुदास के नाम पर है । शासन ने पाणीवास नामक ग्राम उन्हें दान में दिया है । यह भी गुजराती भाषा में लिखी गयी है ।)

तीन सनदें मराठी उर्दू मिश्रित भाषा में लिखी प्राप्त हुई हैं, जो नीचे दी जाती हैं—

(१) वेदमूर्ति राज श्री राजभट बीन यदुपति भट हली वस्ति मजकूर स्वामीचे सेवेसी सेवक बालाजीराम सुभेदार तालुके कुकरमुंडे नमस्कार सु । इसने अशेरमया तैनं व अलफ तुमचे संवस्थान निभरेस होते दगुयामुले किले मजकुरी येऊन राहिला त्यांस साल गुदस्तां सर-कारांतून दिल्हे देवाचे पूजा साहित्य न नैवद व तुमचा कालक्षेप चालला पाहिजे यांज करितां मौजे कोठरज येथील जमीन सेन गासावी-वाले परतने ५ पाच धनार्थ व० सरकारातून दिल्हे आहे त्यांस कीर्द करोन उपयोग करीत जावा सदरहू पांच परतन जमीन ।

(इस सनद में जन जसवन्त के वंशज यदुपति के पुत्र रामबावा अथवा राम-भट को सूबेदार बालाजी राम द्वारा मौजा कोठरज की जमीन देवालय की व्यवस्था और पूजा-अर्चा के लिए दान में दी गयी ।)

(२) श्री रामभक्त परायण राजमान्य राजश्री जन जसवन्त राम बाबा वस्ति कुकुरमुंडे यासी समेद लक्ष्मण पाडवी मां । काठी मुकाम कुकुरमुंडे परे सुलतानपूर । सु ।। सन् १२५६ फसली कारणे नाम पत्र लिहून दिल्हे ऐसी जे तुम्हास पेशगी पासून गाव दिल्हे होते परंतु आमने वहिरीस आज परियंत न्हाते (होते) हाली आपणास आमचै स्व संतोषाने श्रीराम व मारुतीचे आर्चन पूजन करून आपण गाव माजे बोरी आकलकुवा हे देवा त्रित्यर्थ धर्म केले आहे जल त्रुणझाड़ जमीन सर्व उत्पन्न कपालो सुधा तुम्ही घेत जावी । वौप परंपरा उपभोग घेत जावा आमचे वौपांत कोन्ही या गावाबद्दल दावा करणार नाही तुम्ही आमचै अभिष्टचिंतन करून गाव सदरहू पूर्वि प्रमाणे जमीन असेल व गावाची जी सीमा असेल त्याची उत्पन्न येत रावी (जावी) आमचै कडून वावगा उपसर्ग लागणार नाही हे इनाम-

पत्र लिहून दिल्हे सही दस्तुर--पांडुरंग बलाल मु० कुकुरमुढ़े शके १७०१ सौम्यनाम संवछरे माहे पौष वा १ संवत् १८०६ साल दिपावाली।

साक्ष — सही

(१) मल्हार रामचंद्र गुमास्ते जमीदार पो। मार मु कुकुरमुढ़े दस्तुर खुद — सई उमदे लछमन पाडवी सा कठी दसतुर खुद

इस सनद में जन जसवन्त के वंशज बालकृष्ण रामबाबा को— जिनके विषय में कहा जाता है कि ये कुकुरमुढ़ा ग्राम में बस गये थे—शक १७७१ में काठी रियासत के उमेद लक्ष्मण पाडवी ने मन्दिर की पूजा के लिए बोरीगाँव का दान-पत्र लिख दिया है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि ओरठे ग्राम में जहाँ जन जसवन्त रहते थे, आज भीलों की दस-बीस झोपड़ियाँ ही शेष रह गयी हैं। रामबाबा के समय से ही यह ग्राम उजड़ चला होगा। तभी वे कुकुरमुढ़ा आ गये होंगे। रामबाबा के पुत्र अन्याबुवा ही श्रीशंकर श्रीकृष्ण-देव के अनुसार बालकृष्णबाबा कहलाते थे।

(३) इनामपत्र श्रीरामचंद्र भक्त परायण राजमान्य राजश्री बालकृष्ण बाबा देवस्थान कुकुरमुढ़ेकर श्रीरामचंद्र शेवेसी तापर राणा भगवानसिंहजी सा। बुधावलगड वाल्हेर सु॥ सन १२४६ कारणे धरमपत्र लिहून दिल्ही ऐसीजे श्रीरामचंद्र उछव चैत्र श्रु॥ ९ स हो तो बदल टके १८ वर्षांत संवस्थान मारीहून पावत होते ते मधे बंदजाले होते त्याजरुन हाली मौजे सामोवल ता। बुधावल मेथली जमीन परतन १॥ दीड तुम्ही आपले वौप परां घेत जावी आणि राज्यास अभिष्ट चिंतन करीत जावी ग्रामचे वंपांत कोन्ही याजविसी हरकत करणार नाही ठिके परतन १॥ खुश कमान खेडुवाल्या ने दिल्हे असे जाणिजे ६...७ माहे रवि लाखर उर्फ आषाढ़ प्रमाण श्रु॥९ दुरमुख नाम संवछर मोर्तब सुद दस्तुर पांडुरंग दलाल कारकून नि॥ राणाजी सदर सेताची चतुःसीमा पुर्वेस लवण दक्षयेस मछपाभटचा इनाम पच्चमेस सरकारी सेत उतरेस गाव।

रामबाबा के पुत्र अन्याबुवा को (जो बालकृष्ण बाबा कहलाते थे) राजा भगवान सिंग ने रामनवमी के उत्सव के निमित्त सामोअल ग्राम की डेढ़ एकड़ जमीन दान में दी थी। यह उसी का दानपत्र है।

उपर्युक्त हस्तलिखित पोथी में जन जसवन्त का वंशवृक्ष इस प्रकार अंकित है—
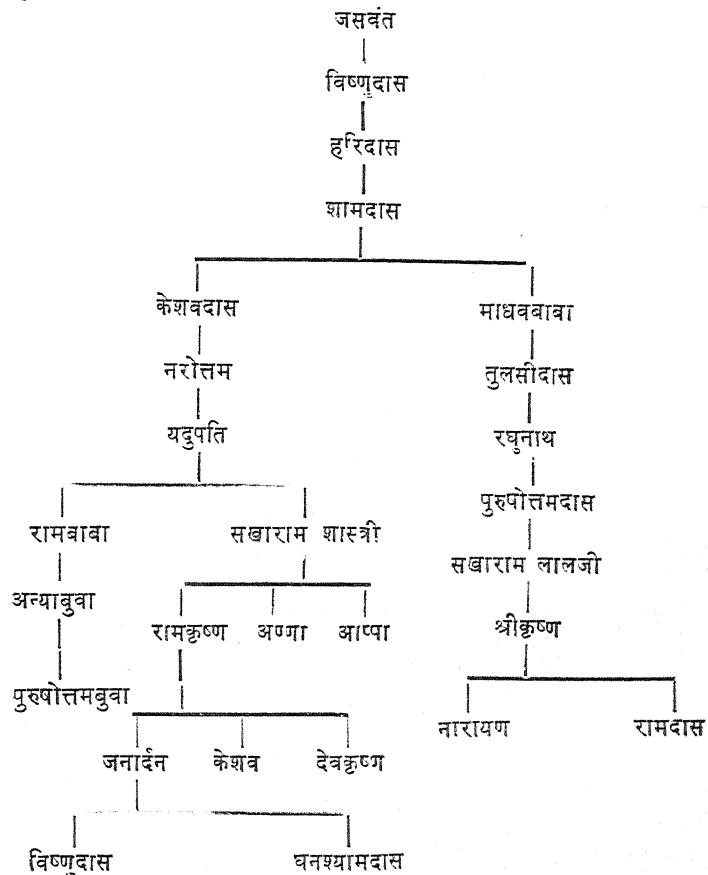
वंशवृक्ष से यह भी सिद्ध होता है कि जन जसवन्त अपने गुरु तुलसीदास के नाम की भाँति अपने पुत्र-पौत्रों के नाम के आगे 'दास' लगाने में गौरव अनुभव करते थे। वंश में एक नाम 'तुलसीदास' भी रखा गया था।

हिन्दी रचनाएँ

जसवन्त की हिन्दी-रचना के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं। ये श्री समर्थ वाग्देवता मन्दिर, धूलिया की हस्तलिखित पोथियों से साभार संकलित किये गये हैं।

१

कोई बन्दो कोई निन्दो कोई कैसो कहो रे ।
रघुनाथ साथे प्रीत बांधी होय जैसो होय रे ।।धृ०।।
कमलम्याने मोट बांधी नीर था भरपूर रे ।
रामचंद्र ने कूर्म होकर राख लीनी पीठ रे ।।१।।
चंद्र सूर्य जीनी जोत स्तम्भ बिन आकाश रे ।
जलउ पर पाषाण तारे क्यू न तारे दास रे ।।२।।
जपत शिव सनकादि मुनिजन, नारदादि संत रे ।
जन्म जन्म के स्वामि रघुपति दास जनजसवंत रे ।।३।।

२

साचा उपदेश देत भली भली मति देत
समता सम बुद्धि देत कुमती को हरत है ।
मार्ग को दिखाय देत भाव देत भक्ति देत ।
प्रेम की प्रतीत देत आभार भर भरत है ।।
गुमान देत ध्यान देत, आत्म को विचार देत
ब्रह्म को बताय देत, ब्रह्ममय करत है ।
मूढमति कहे जसवंत नहिं जन कछु देत ।
श्रीगुरु निशिदिन देत की देवो ही करत है ।।

३

धन धन धन आज को दिन । प्रकट भये स्वामी ।
पूर्ण ब्रह्म प्रकट भये । सकल अंतरज्ञानी ।।१।।
चैत्र मास शुद्ध नवमी । शुभग पेहर[1] दोउ ।।
प्रगट भये ताही समें । रामचंद्र दोऊ ।।२।।
सुवर्णश्रृंगी रोप्यखुरी अनेक धेनु आनी ।
विप्र को बुलाय दिनीं । हेम तुलसी पानी ।।३।।

---

१. प्रहर

नाम धर्‌यो श्याम राम । शुभ निशाण बाजे ।
जन जसवन्त भाग्यो बड़ो, बंदीजन गाजे ॥४॥

× × ×

राम जन्म सुनि नाचत मुनीजन । नाचत गणगंधर्व किन्नर ।
नाचत धरणी नाचत शेष । नाचत उमया सहित महेश ॥१॥
नाचत मघवा पुष्पहि बरखत । नाचत भानु मगमो हरषत ।
नाचत विधि और नाचत ईश । नाचत अमर सहित तेतीस ॥२॥
नाचे तरु वंशी दंडक बनमो[1] । नाचत जसवंत प्रफुलित मनमो ॥३॥

४

परम भगत हनुमान मेरो । परम भगत हनुमान ॥धृ०॥
प्रतिमणि तीन्हों लोक का मोल । मानते तृण समान ॥१॥
कुटि कुटि मणि भीतर देखे । ताहां नहीं रामनिधान ॥२॥
कोप कर प्रभु कपि प्रति बोले । तेरे तन में काहां[2] भगवान ॥३॥
काढो खाली नखसुं दिखलाने । ताहां प्रगट रामनिधान ॥४॥
रघुनाथ सेवक स्तुति बखाने जनजसवंत को प्राण ॥५॥

५

ऐसा राम मिठा मोहि लागा
अवर मिठाई से मेरा मन भागा ॥धृ०॥
कामि कू जैसी मिठी कामीनी
चार अधारे कूं मीठी यामिनी ॥१॥
आन भजेन (भजन) कुं ठाणा
रोणा लोभी कु जैसा मिठा सुन्ना ॥२॥
च्यकोर[3] कु जैसा मिठा चंदा
जन जसवंत कुं मिठा रघुनंदा ॥

६

मेरे दास जस तु हे ज्याहा[4] । लक्षमन सहित
समेत जानकी हुं जो बसतु हो ताहा ॥
ज्याहां मेरे जन केवल सोवे बाके निकट हूं जागु ॥

---

१. मन में, २. कहाँ, ३. चकोर, ४. जहाँ ।

चलहुं जाहा न ताहा धनुस-बान ले डोर तहें संग लागु ।। १ ।।

ज्याहा मेरे जन उठी चले तो कर ग्रहें बाट लगाउ ।।

आपण पिताबर कि करु छाया जाहा ताहां लख लाउं ।। २ ।।

मोसे वैर करे सो सो सुभक्त कुं सहिय न जाये ।।

जन जसवंत भक्त को महिमा राम आपन मुख गाये ।। ३ ।।

७

कब मैं राम उपासक देखु ।।

धोउं चरन चरनोदक लेउं सफल जनम कर लेखु ।।

अनन्य भजन भजों श्रीराम और देव नहिं जानु ।।

सकत गेर राजा रामहीं देखो स्वर्ग सुख नहि जानु ।। १ ।।

८

संपत विपत सुख दुख मेरो राम रंग रस राता ।।

परधन परसांई कि नारी पर नारी तब माता ।। २ ।।

जोग जुगुन कछू युगतिन मागुं । हरि खें हरि गुन गाउं ।:

जन जसवंत दास दासन को साधु मीले सुख पाउं ।। ३ ।।

९

तु मेरो जेजेमान माधो । ज्ञान ध्यान न आसन मुद्रा ।।

गोरखनाथ समान ।। १ ।।

गुरू वीन मारग कोन बतावे । उहीं मेरो प्रान ।। २ ।।

जन जसवंत कहे रघुनंदन । जब तब तुहीं जमान ।। ३ ।।

साक्या (साखी)

जन[१] जसवंत को माथो उठो, सुब हो (हु) ग्यानि को ग्यान ।।

करमि तो तितकि नहि पै कथनि-मेस समान ।।

कथनि बथनि छांड़ दे पै हरि से चित लायें ।

निरखें निर पिये बीना कबहु प्यास न जाये ।।

रघुनाथजी से प्रीत बांधु हो न होय सो होयरे ।।

---

१. पठांतर — जन जसवंत को सीस उठो । सुनि ग्यानी को ग्यान ।
भट पंडीत वैयठ रहे सो गनीका गई विमान ।।

कोउ बंदो कोउ निंदो कोउ कछु कहो रे ।। १ ।।
रवि चंद कु जिन जोत दिन्ही स्तंभ बीन आकाश रे ।
जल उपर पाखान तार क्यों न तारे दास रे ।
कांवरी में मोट बांधी नीर (ढोहता)—
ताहा रघुपति कूर्म होकर राखलियो पीठ पर रे ।। २ ।।
नही विद्या नही कौताला नहीं कुछ और भाव रे ।।
येक ज्याने राम सोय और न ज्यानो भाव रे ।। ३ ।।
स्वामी सेवक भाव ज्याको तान लागत बान रे ।।
जुगन जुगदास तारे मुग्त (मुक्त) भये ज्ञान रे ।। ४ ।।
जीस पंथ सनकादिक चले ध्रिव नारदादिक संत रे ।।
चरण शरण राख लियो दास धन जसवंत रे ।। ५ ।।

ज्याको आदि येक अंति येक मध्य येक देवा ।।
ऐसी रघुराज छयांड किस्को करो सेवा ।।
दीनबंधु कृपासिंधु मौ तुम्हारी आसा
चरन शरन राखि लीयो जन जसवंत दासा ।।
ननः ननः ननः कनक बाण लघु को दंड साजे ।
ध्रिमि ध्रिमि ध्रिमि ध्रिमिक नृप रुण झुण झुण बाजे ।
कनको चौगान बनी कुसुम गेंद सोहे ।।
खेलते सम चंद्र ब्रह्मादीक मोहे ।। १ ।।
श्रीमोरव भाल कि कुलये बनी कोटी चंद्रवारु
कहे जन जसवंत दास पग पर जीत बार ।। २ ।।
ऐसो रघुराज पर वार वार जयें (जय्ये)
दिक्चकोर[1] रामचंद्र निरखत सुख पाये ।। (पय्ये) धृ० ।।
ज्याको बान येक वचन येक पत्नी येक शय्या ।।
ऐसे रघुराज छ्याड किस्कु भजो भय्या ।। १ ।।

---

१. दृगचकोर

अैसे रघुनाथ जी के वारी वारी जैये ।
द्रीगचकोर रामचंद्र णीरखत (निरखत) सुख पैये ।।
अैसे रामचंद्र बली बली बली जैये ।। १ ।।
ज्याको वान येक येक बचन येक पतनी येक सैया
येसे प्रभु साउ कर कोय कु भजु मै (भजिये)
अतल वितल सुतरपति पती पती पती स्यामा
जनकीपती लक्षमणपती पसुपती राया ।
ज्याके आदी येक अंत येक मध्य येक देवा
अैसे प्रभु छोडकर कौन की करु सेवा ।।
दीनबंधु कीपासींधु मोहे होरी आशा
चरन सरन राप लिये जन जसवंत दासा ।।

× ×

परम भगत हनुमान मेरो ।।
कुछ कुट मनि भीतर देखे ।।
वामो न ही राम नीधान मेरो ।। १ ।।
काहा उखाल नख सोवत लावें
तन मन मो भगवान मेरो
रघुपती शेष अस्तुती बखाने
जन जसवंत को प्रान मेरो

× ×

मन मन का सो पोयेले
तन मन दोरी हात ।
मन फीरे न माला फीरे
लये लागी जसवंत

× ×

मेरो परम भगत हनुमान मेरो परम भगत... ।।
प्रेम प्रीत मनि तीन्हो लोक मोल सो ।

मानत त्रुन समान ।। मेरो...।।

वामे नही राम निधान मेरो ।।

कोपि करी प्रभु कपी प्रति

गले मोतन की हार मेरो ।।

काहा की माल, नख सो वत्तलावे

तासो प्रगटे रामनीधान ।।

फेरी हात रघुनाथ कीरत

हो बीसर गयो दुख मान ।। मेरो...।।

रघुपति सेवक स्तुति बखाने

जन जसवंत को प्रान निधान ।।

सवाई

गयो जी जोबन कामिनी के संग

वृध भयो जप माल धरी है ।

आग लागी मदीर कु कुप खनावत चेल्ले[1] भरी है

ले गये चोर चुराये के

लागो लोचन तेल भरी है ।

अंत समे रघुनाथ नहि

जसवंत कहे मुख धूल परी है ।।

☒ ☒

डरीये रे बाबा डरीये रे ।।

आपने साहेब सुं डरीये रे ।।

अवगुन आपने दीवान सुनेंगे

तब जवाब काकरीये दे ।।

आकर मकर कने मुठले पीछे पोजाण कनोउ देख ।।

ज्यादा कोउ नही ताहा जन जीवन आवे नैंन प्रभु देखें ।। १ ।।

---

१. चले ।

अैसो गुलाम नवाजी लीये प्रभु
कपटी कुटील मन कामी
सेवा चोरनोवाले हाजीर
जन जसवंत हरां भी ॥ २ ॥

मेरो ज्यज्यमांन[१] रघुनाथ येक ॥
हम भिक्षुक तुम देव ब्राम्हणं ॥
दीयो अज्युरी दानं ॥
सोने के गड दीयो—भी भीखनं ।
दे तो असुर नीदान ।
हम भी (क) कह ज्यु तुम्हारो
अमल भगती दीज्यो दान ॥ ३ ॥

ज्योग न मांगु, ज्युगत न मांगु सुगति न मागु
सुख दुख मेरे जोवन मरण कुं सदा रहो तुम ध्यान ॥
जनक सुता और दशरथनंदन मेरे जीवन त्रांन ।
मन मंदीर मो सदा वीराजो
जन जसवन्त के प्रान ॥

जसवंत के पद खानदेश में ही नहीं, महाराष्ट्र के अन्य स्थानों में भी जन साधारण द्वारा गाये जाते हैं। इनकी अनगढ़ हिन्दी रचनाएँ नीति और भक्तिपूर्ण हैं। तुलसीदास के समान रामभक्त होने पर भी इनमें साम्प्रदायिक असहिष्णुता लेशमात्र भी नहीं है। तुलसीदास के जीवन का अध्ययन करने वाले शोधकों ने उनके इस महाराष्ट्रीय शिष्य का कहीं उल्लेख नहीं किया है। इनकी मराठी रचनाएँ कम होने के कारण मराठी के प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ महाराष्ट्र-सारस्वत में भी इनका उल्लेख नहीं है। तुलसी के जीवन और साहित्य-सम्बन्धी अन्वेषण कर्ताओं को इस उपेक्षित सन्त कवि की ओर ध्यान देना चाहिये।

● ●

---

१. जजमान

समर्थ रामदास और उनके अप्रकाशित हिन्दी पद

समर्थ का समय ईसा की सत्रहवीं शताब्दी है। उस समय राजनीतिक क्षेत्र में मुसलमानों का आतंक छाया हुआ था। महाराष्ट्र दो टुकड़ों, आदिलशाही और मुगलाई, में बँट चुका था। पूने का भाग स्वतन्त्र था। अतएव उसके आस-पास की जनता सुख की साँस ले रही थी। परन्तु उत्तर भारत के मुगलों की सेनाओं के आक्रमणों के कारण शेष जनता सशंक और समय-समय पर उनके अत्याचारों की शिकार होती रहती थी। इतना होने पर भी मुसलमानों के साथ तीन शताब्दियों तक रहते-रहते हिन्दू जनता भी क्रमशः उनके साथ सामाजिक सम्बन्ध बढ़ाने लगी थी।

धर्म के क्षेत्र में वारकरी सन्तों ने 'भेदाभेद भ्रम अमंगल' की भावना प्रचारित कर मानवता की प्रतिष्ठा कर दी थी। वे सभी मतों के प्रति उदार थे। इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमान फकीरों की यात्रा में हिन्दू जनता जाती थी और मुसलमान भी हिन्दुओं के धार्मिक उत्सवों का विरोध नहीं करते थे। इतना ही नहीं, अब अनेक मुसलमान भी वारकरी सन्तों के भागवत सम्प्रदाय के अनुगामी बन रहे थे। शेख मुहम्मद भागवत सम्प्रदाय में शामिल हो गये। हिन्दू भी मुसलमान स्त्रियों के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित करने लगे थे। हिन्दुओं की भिन्न-भिन्न जातियों में वैवाहिक सम्बन्ध सहानुभूति के साथ बढ़ रहे थे। धर्मव्यवस्था शिथिल हो रही थी। ब्राह्मणों का पतन हो चुका था। शाहजी की जागीर में भले ही हिन्दू सुखी रहे हों पर महाराष्ट्र के अन्य क्षेत्रों में उनकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। ऐसी परिस्थिति में रामदास और उनके शिष्य शिवाजी का प्रादुर्भाव हुआ।

समर्थ की जीवनी

समर्थ रामदास ने, जिनका मूल नाम नारायण था, जाम्भगाँव में चैत्र शुक्ला नवमी, शाके १५३० को जन्म लिया। उनके पिता सूर्याजी पन्त अत्यन्त धार्मिक

प्रवृत्ति के पुरुष थे। वह सूर्योपासक थे। कहा जाता है कि वह प्रति दिन सूर्य नमस्कार और गायत्री का जप किया करते थे। सूर्यनारायण की कृपा से सन्तति होने के कारण उनका नाम नारायण रखा गया था। नारायण के एक ज्येष्ठ बन्धु और थे, जिनका नाम गंगाधर था। रामदास के जीवन को जानने के लिए उनके समाधि ग्रहण के चार दिन पश्चात्, उनके निकटतम शिष्य दिवाकर गोसावी द्वारा लिखवाये गये 'वाकेनिशी प्रकरण' उसके कुछ वर्षों बाद गिरिधर कृत 'समर्थ प्रताप' और शाके १७१५ में लिखित तथा १७३९ में परिवर्धित 'हनुमन्त स्वामी ची बरबर' मुख्य साधन हैं। 'वाकेनिशी प्रकरण' सबसे प्राचीन और लगभग समर्थकालीन होने से अधिक प्रामाणिक है। उसी के आधार पर उनके जीवन की मुख्य घटनाओं को प्रस्तुत किया जाता है।

जब रामदास सात वर्ष के थे तभी उनके पिता का देहान्त हो गया था। पर पिता के जीवन में ही उनकी प्रतिभा का चमत्कार प्रकट होने लगा था। चार वर्ष की अवस्था में वह दिये हुए किसी भी पाठ को कण्ठस्थ कर लेते थे। शाके १५४२ में जब उनकी माता ने उनका विवाह करना चाहा तब मण्डप में 'सावधान' सुनते ही वह सचमुच सावधान हो गये और वहाँ से उठ कर भागे। भटकते-भटकते वह नासिक के निकट टाकली नामक स्थान में पहुँचे, जहाँ उन्होंने बारह वर्ष तक गोदावरी नदी के मध्य एक पाँव खड़े होकर गायत्री के कई पुरश्चरण किये और तेरह करोड़ 'श्री राम जय राम, जय जय राम' का जप किया। इसी अवधि में उनका भगवान राम से साक्षात्कार हुआ और उन्हीं के द्वारा ये दीक्षित हुए। बारह वर्ष उन्होंने देश भर के तीर्थ क्षेत्रों की यात्राएँ कीं। इससे उन्हें अपने देश की स्थिति का अच्छा ज्ञान हो गया और धर्म संस्थापन की स्फूर्ति उनमें हुई। शाके १५७० में चाफल में उन्होंने राम की मूर्ति की स्थापना की। शाके १५७१ में शिवाजी और स्वामी रामदास की प्रथम ऐतिहासिक भेंट होने का उल्लेख 'वाके निशी' में मिलता है। इस तिथि के सम्बन्ध में महाराष्ट्र के विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। श्री राजवाड़े और देव, वाकेनिशि की तिथि को मान्यता देते हैं और श्री भाटे तथा चान्दोरकर इसका विरोध कर के १५९४ में इस भेंट का होना प्रतिपादित करते हैं। दोनों लेखक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। भाटे और चान्दोरकर अपने पक्षसमर्थन में दो पत्रों का उल्लेख करते हैं। पहला पत्र शाके १५९४ का केशव गोसावी का है, जो दिवाकर गोसावी के नाम है। उसमें लिखा है कि शिवाजी भोंसले रामदास से मिलने आ रहे हैं, राजा प्रथम बार वहाँ आ रहे हैं। दूसरा पत्र भास्कर गोसावी का है जिस पर शाके १५८० अंकित है। यह भी दिवाकर के ही नाम

है, जिसमें लिखा है कि मैं जब राजा शिवाजी के पास गया तब उन्होंने मुझसे मेरे बारे में पूछा और यह भी पूछा कि कहाँ से आये हो। जब मैंने कहा कि मैं रामदास का शिष्य हूँ तब उन्होंने पुनः पूछा कि रामदास कहाँ रहते हैं, वह मूलतः कहाँ के रहने वाले हैं।

प्रथम पत्र में उल्लेख है कि शिवा जी प्रथम बार रामदास के यहाँ जा रहे हैं। दूसरे पत्र से यह ज्ञात होता है कि शाके १५८० तक शिवाजी को रामदास के सम्बन्ध में यह भी ज्ञात नहीं था कि वह कहाँ रहते हैं। इन्हीं आधारों पर श्री भाटे और चान्दोरकर का निष्कर्ष है कि शाके १५७१ में शिवाजी और रामदास की भेंट नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में श्री राजवाड़े और देव का कहना है कि उपर्युक्त दोनों पत्र जाली प्रतीत होते हैं। ये मूल नहीं हैं, मूल की नकल हो सकते हैं। इनमें जो तारीखें दी गयी हैं, उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। यदि वे जाली न भी न हों तब भी उनसे यह सिद्ध नहीं होता कि शिवाजी और समर्थ में उन तिथियों के पूर्व भेंट ही नहीं हुई। हो सकता है कि राजा ने आर्थिक सहायता देने के पूर्व व्यक्ति की परीक्षा लेनी ठीक समझी हो कि वास्तव में वह समर्थ के आश्रम का प्रतिनिधि है अथवा ठग है। समर्थ और शिवाजी की भेंट की प्रथम तिथि ही मान्य होनी चाहिये। तभी हम शिवाजी के पीछे रामदास की प्रेरक शक्ति की कल्पना कर सकेंगे।

रामदास और राजनीति

क्या रामदास केवल सन्त थे या शिवाजी के माध्यम से समय की राजनीति में भी हाथ बटाते थे? यह प्रश्न भी विवादास्पद। है उन्होंने जो शहापुर चाफल, मसूर, उम्ब्रज, माजगाँव, बाहे, मनपाडले, पारगाँव, शिबड़ और शिगणवाड़ी में हनुमान की प्रतिमा की स्थापना की, उसमें भी उनकी राजनैतिक दृष्टि बतायी जाती है। उस समय ये प्रमुख स्थान समझे जाते थे। सामान्य धारणा तो यही है कि शिवाजी को स्वराज्य स्थापना के लिए प्रेरित करने वाले रामदास ही हैं। दूसरा मत यह है कि रामदास का शिवाजी की राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। यदि रामदास न भी होते तब भी शिवाजी का स्वराज्य स्थापन आन्दोलन चलता। रामदास केवल सन्त थे। इस मत के पोषकों में प्राध्यापक भाटे प्रमुख हैं।

समर्थ ने प्रत्यक्ष राजनीति में भाग भले ही न लिया हो, पर वह अपने युग के उत्पीड़न से सर्वथा तटस्थ नहीं रहे। उनके साधनचतुष्टय का दूसरा अंग

'राजकारण' (राजनीति) है।[१] उन्होंने दासबोध में स्पष्ट संकेत किया है कि 'चलवल' (आन्दोलन) में ही सामर्थ्य है।[२] परन्तु आन्दोलन ऐसा करना चाहिये जिसमें भगवन्त का अधिष्ठान हो। स्वराज्य का आन्दोलन जिसमें असंख्य जनता का सुख निहित है, क्या भगवन्त के अधिष्ठान से रहित है ? अतएव रामदास ने लोककल्याण की दृष्टि से यदि शिवाजी में स्वराज्य की प्रेरणा भरी हो तो इससे उनका सन्तत्व घटा नहीं, प्रत्युत बढ़ा ही है।

तुकाराम और समर्थ रामदास

तुकाराम समर्थ रामदास के समसामयिक सन्त रहे हैं। अतः दोनों की पंढरपुर की यात्रा के समय कभी भेंट हुई होगी। महाराष्ट्र में इन दोनों सन्तों के गुरु-शिष्य होने की चर्चा भी चली थी। पर तुकोबा के शिष्यों (रामेश्वर भट्ट, निलोबा आदि) ने कहीं भी यह नहीं लिखा कि तुकोबा ने समर्थ से गुरुमन्त्र प्राप्त किया। परन्तु समर्थ के शिष्यों और भक्तों ने यह प्रतिपादित किया है कि समर्थ ने तुकोबा को तारक मन्त्र का उपदेश दिया और उनका 'तुका', 'तुकाप्पा' नाम बदल कर 'तुकाराम' रखा।[३]

इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य प्रथम बात यह है कि 'तुकोबा' ने बाबाजी को अपना गुरु कहा है।[४] उन्होंने कहीं भी रामदास के तारक मन्त्र का उल्लेख नहीं किया। प्रोफेसर दाण्डेकर का यह कथन उचित है कि तुकोबा और समर्थ के शिष्यों की परमार्थ कल्पना में भेद है। तुकोबा भगवान के किसी भी नाम और मन्त्र को तारक मानते हैं, परन्तु समर्थ के शिष्यों का विश्वास है कि 'तारक मन्त्र' के बिना कैवल्य पद की प्राप्ति नहीं हो सकती।[५] इसके अतिरिक्त समर्थ के शिष्यों की धारणा है कि मुमुक्षु को जहाँ तक सम्भव हो 'ब्राह्मण' को गुरु मानना चाहिये, यह वृत्ति तुकोबा की नहीं रही। वह स्वयं अब्राह्मण होते हुए भी ब्राह्मणों के गुरु थे।[६] इस प्रकार अन्तःप्रमाण से तुकोबा और समर्थ का गुरु-

---

१. साधनचतुष्टय—मुख्य हरिकथा निरूपण। दूसरे तें राजकारण तिसरे सावधानपण। सर्व विषई चौथा अत्यन्त साक्षेप। सामर्थ आहें चलवलोचे दासबोध (११ ५-४)

२. देखिए, रामदास आणि रामदासी, भाग ५०, पृष्ठ ३७०।

३. वही।

४. देखिए 'बाबाजी सद् गुरुदास तुका बाबाजी आपुले सांगीतले नाम' वही, पृष्ठ ३७१।

५. वही, पृष्ठ ३७१।

६. वही, पृष्ठ ३७१।

शिष्य-सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। तुकोबा का काल शाके १५२० से शाके १५७२ और समर्थ का जन्म शाके १५३० है। बारह वर्ष की आयु में समर्थ घर से निकल गये। बारह वर्ष तक उन्होंने तपस्या की और बारह वर्ष तक तीर्थाटन किया। शाके १५६६ में वह लौट कर अपनी माता से मिले। अतः तुकोबा ने जब शाके १५७२ में समाधि ली तब छह वर्ष के भीतर उन्होंने समर्थ को गुरु बनाया हो, यह सम्भव प्रतीत नहीं होता। यदि ऐसा होता तो समाधि के पूर्व तुकोबा अपने किसी अभंग में इस क्रान्तिकारी घटना का उल्लेख अवश्य करते। गुरु का महत्व प्रतिपादित करने में सन्त कभी झिझके नहीं। अतः निष्कर्ष यह है कि रामदास और तुकोबा में कभी भेंट हुई होगी, पर उनमें गुरु-शिष्य-सम्बन्ध कभी नहीं हुआ।

समर्थ की कृतियाँ

समर्थ की रचनाओं की संख्या अधिक है।[1] परन्तु उनमें दासबोध, मनाचें श्लोक, करुणाष्टक और विभिन्न मराठी छोटे-बड़े ग्रन्थ तथा स्फुट अभंग और हिन्दी पद उल्लेखनीय है। दासबोध की रचना शाके १५८१ में हुई। इसमें अध्यात्म उपदेश के अतिरिक्त अपने समय की स्थिति का अत्यन्त सजीव वर्णन किया गया है। इसका हिन्दी रूपान्तर स्व० माधवराव सप्रे ने किया है। 'मनाचे श्लोक' में मन को प्रबुद्ध करने वाले २०५ श्लोक हैं। इसमें अद्वैत-तत्वज्ञान का सार भरा हुआ है। करुणाष्टक में रामदास के हृदय की, भगवान् के प्रति मिलन-उत्कंठा की, भावनाएँ व्यंजित हैं। इस आत्मपरक काव्य में भावना की सूक्ष्मता और उत्कटता दर्शनीय है। समर्थ के नाम पर लघु और दीर्घ रामायणें भी प्रसिद्ध है। लघु रामायण में केवल युद्ध काण्ड और दीर्घ रामायण में सुन्दर और युद्ध काण्ड है। उनके नाम पर एक किष्किंधाकाण्ड भी मुद्रित है। पर उसे मराठी के विद्वान् प्रामाणिक नहीं मानते।[2] एकनाथ के अनुकरण पर उन्होंने 'भारुड़' भी लिखे हैं।

समर्थ के हिन्दी पद

समर्थ के हिन्दी पदों की संख्या भी अधिक है, जो मठों की जीर्णशीर्ण पोथियों से प्राप्त हुए हैं। उनमें इनके पदों का कोई व्यवस्थित संचय नहीं है। प्रत्येक

---

१. समर्थ की कविता समुद्रा अफार आहे (समर्थ की कविता समुद्र विस्तृत है) पांगारकर-समर्थ ग्रन्थ भांडार, पृष्ठ ६।

२. देखिए पाँच सन्त कवि, पृष्ठ ४१६।

जीर्ण पोथी में समर्थ के अतिरिक्त अन्य सन्तों के भी पद मिलते हैं। 'समर्थ गाथा' तथा अन्य स्रोतों से जो रामदास के हिन्दी पद प्राप्त हुए हैं उनमें छन्दो-भंग होने पर भी वे राग रागनियों में गाए जा सकते हैं। उनमें परमात्मा की सर्वव्यापकता, वाह्य आडम्बर के प्रति अरुचि, समता आदि के भाव ध्वनित हुए हैं। समर्थ रामभक्त थे। अतएव प्रत्येक स्थल और प्रतीक में वे अपने आराध्य को देखते थे। अतः ये राम को 'मोहन नागर', 'साई' आदि नामों से भी अभिहित करते हैं। वह कहते हैं—

जित देखो उत राम हि रामा।
जित देखो उत पूरण कामा॥

तृण, तरुवर, सातो सागर।
जित देखो उत मोहन नागर॥

जल, थल, काष्ठ, पषाण, अकाशा।
चंद्र, सूरज, नच्छ, तेज, प्रकाशा॥

मोरे मन मानस राम भजोरे।
रामदास प्रभु ऐसा करो रे॥

यदि मन राम नहीं समाया है तो तीर्थ, व्रत,
स्नान, योग करने से भी क्या लाभ होगा।

राम न जाने नर तो क्या जी।
धन दौलत सब माल खजाना,
और मुलुख सर किया तो क्या जी।
गंगा गोमती रेवा तापी,
और बनारस न्हाया तो क्या जी।

समर्थ की दृष्टि व्यापक और उदार थी। वह राम, रहीम, कृष्ण सभी को एक ही रूप में देखते थे। उनके कृष्ण सम्बन्धी पद भी हमें हस्तलिखिति पोथियों में प्राप्त हुए हैं। वे हिन्दू मुसलमानों के परस्पर अनुदार भाव को दूर करने के लिए उपदेश देते और उनकी धार्मिक कट्टरता पर प्रहार करते थे। हिन्दू और मुसलमान नाम से दो मजहब भले ही चले हों, पर दोनों का सर्जन-हार तो एक ही है। वही सृष्टि को चलाता है—

हिंदू मुसलमान मजहब चले सरज्जनहारा,
साहेब अलम कुं चलावे अलमथी न्यारा।
घट घट साहियां रे अजब अला मिया रे,
ये हिंदू मुसलमान दोनों चलावे पछाने सो भावे।

जिसकी परमार्थ के प्रति लगन है, वह अल्ला मिया को प्यारा है। संसार में सभी वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं, परन्तु 'गैबी' (परमार्थसाधक) नहीं--

देहरा तुटेगां मशीदी तुटेगी,
तुटेगा सब हम सों,
तुटत नहीं फुटत नहीं गैबी सो कैसो रे भाई।

समर्थ के कई अप्रकाशित हिन्दी पद लेखक के संग्रह में हैं, उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं। महाराष्ट्र में रामदास के समय हिन्दी जिस प्रकार लिखी जाती थी उसके उदाहरण के लिए पद प्राचीन पोथियों से अविकल उतारे गये हैं।

पद

ज्याहा[१] ज्याऊ[२] ताहा राम सही।
सब खोजत सो पाछे रही ॥
ज्याहा लौ ज्यावे ताहा दील ज्यावे।
राम बीन मोहे कछु नहीं भावे ॥
येक छपपावे[३] येक दीखावे।
ज्याहा भावे ताहा राम लीज्यावे[४] ॥
रामदास बंदा उठी च्यले[५]।
ज्याहा जाऊँ ताहा राम मीले ॥

पद (राग काफी)

॥ घृ ॥ लटपटी पाग बनी रे ॥

कुंकुं (केशर) तीलक बन्यो है कोटी च्यंद बनो रे।
पीत बसन बहु भुखन[६] मंडीत चमकत माल मनी रे ॥

१. जहाँ। २. जाऊँ। ३. छिपावे। ४. ले जावे। ५. उठ चले। ६. भूषण।

धनुष बाण लघु ठान बीराजे, पीरत बहुत घनी रे।
देव के देव कुं आनी मीलाबे,[१] ऐसा कौन गुणी रे॥
कोनी तेहतीस बंद छुरावे धन पीता जननी रे।
धीर उदार फणीबीर जेठो दास को राम धनी रे॥

पद (राग मारू)

नयोनन मो रघुबीर मेरो[२] ।
कर शरच्याप सलीलज्य[३] लोचन॥
ठाडे[४] भये रणधीर ॥ १ ॥
ललीत[५] तउ नवनागर लीला ।
ज्यव[६] तब देषत[७] धीर[८] ॥ २ ॥
रामदास की प्रेम की पीरत ।
मयरकत[९] नयनन[१०] नीर ॥

पद

दयाल[११] पतीत पावन हो ।
ज्ञान न ज्यानु[१२] ध्यान न ज्यानु ॥
अंतर भाव न हो ॥ १ ॥
धरम न कीया दान न दीया ।
मुगती[१३] कुं ज्यावनं हो ॥ २ ॥
रामदास कहे मेतो[१४] अैसा ।
फोकट[१५] खावन हो ॥ ३ ॥

पद

नाथ सनाथ करो अनाथ को नाथ सनाथ करो॥

---

१. आनि लाकड़। २. पाठान्तर धुलिया की पाण्डुलिपि क्रमांक १८४०–मोरो नयनन मों रघुबीर ३. सलीलज (सलिलज, कमल) ४. ठाड। ५. ललित। ६. जब।७. देखत। ८. स्थीर। ९. झरकत। १०. नयनों में। ११. पतित। १२. जानूँ। १३. मुक्ति। १४. मैं तो। १५. मुफ्त।

बेद बखानें ब्रीद तमारो ।
सो झुटा[१] न करो ॥ १ ॥
भगतन की तन राखो मन कौ ।
दुरी दुरी न धरो[२] ॥ २ ॥

पद

दीन दयाल दयाल करे हो । दीन दयाल ।:
येई संसार अपार दुख को ।
जीवन उदास भयो ॥ १ ॥
ज्यानत ज्यानत मांगत मनं कुं ।
अैसा काम कीया ॥ २ ॥
दास दीन ज्यन सरन तमारे ।
कहत सब गया ॥

पद

लाज्य न कीज्यै हो भज्यन कुं ॥ लाज्य न कीजै हो ॥
आगम नीगम संत समागम ।
अंतर लीजै हो ॥ २ ॥
दास दया कर अंतरवासी ।
तन मन दीज्ये हो ॥ भज्यन कुं ॥

पद

भगतन की तन हो दयाल ॥
अंतर की गत अंतर ज्याने ॥
ज्यानत हे मन हो ॥ १ ॥
मन की पीरत मन मो राखी ॥
च्याखी संतन हो ॥ २ ॥
रामदास की अंतरलीला ।
अंतर भावन हो ॥

पद

कांहा छ्यपाऊँ[३] हो नीरंजन ।
काहा छपाऊँ हो ।

---

१. झूठा । २. दूरी धारण न करो । ३. छिपाऊँ ।

ज्याहा देखुं ताहा प्रगट गुसयां[१] ।
कैसो लै ज्याऊ हो ॥ १ ॥
मुज में[२] ठाकुर में ज्यान[३] न पाउ हो ॥ २ ॥
रामदास ज्यन नीरगुन के गुन ॥
ज्यब[४] तव[५] गाउंहो ॥ ३ ॥

पद

सब घट में है रे खुदाई ।
खाली ज्यागा[६] नहीं रे खुदाबीन ज्यनेइत[७] नाहीं रे ॥ १ ॥
झ्युटी कहे सो झ्युटी दीवानी खबर न पाई रि ।
दास फकीर कहे ईतना ही अंतर माही रे ॥ २ ॥

पद

प्रगट कौन करे राम प्रगट कौन करे ।
आगम नीगम शेश वीरची[८] ताकु[९] भुली परे ॥ १ ॥
अलख नीरंज्यन[१०] सब ज्यन[११] माही । देखत रूप सरे ॥ २ ॥
दास कहे गम संत समागम ॥ अंतर माही धरे ॥ ३ ॥

पद

बावरी भई तन मेरी ॥ बावरी भई ॥
जीद[१२] देखुं तीद[१३] गड़े[१४] नीरंज्यन । च्यमकत भुली रही ॥ १ ॥
नीरखत नीरखत देखत मन मो तन की सुधि गई ॥ २ ॥
दास के पास दयाल की मुरत[१५] । सब घट ये सही ॥ ३ ॥

पद

ज्यानी दीवानी रे बाबा ज्यानी दीवानी रे ।
भली न मनें बुरी न मानें बात घुमानी रे बाबा ॥ १ ॥
ज्यानी में ज्यनं अकल गवाये जीकीर न[१६] मानी रे बाबा ॥
दास फ़कीर कहै मनु धीर असबत मांनी रे बाबा ॥ २ ॥

---

१. गुसैयाँ । २. मुझमें । ३. जान । ४. जब । ५. तव । ६. जगह । ७. जानत । ८. विरंची । ९. उसको । १०. निरंजन । ११. जन । १२. जिधर । १३. उधर । १४. जमे हुए । १५. मूर्ति । १६. ध्यान नहीं किया ।

पद

पानी में प्यासा मुवा[1] रे अल्लम[2] पानी में प्यासा मुवा ।
तीरत तीरत[3] देख कव[4] लक घुंडत हये[5] कुवारे ॥२॥
मारग छयारी कुमारग ज्यावे । तैसा हाल हुवा रे ।
ज्युमीन[6] खोज्य अनाज्य चलावै चुकी रही चुवारे ॥ ३ ॥
कहे दास सजन छोड़ी खजीनां । मागतु है ख्वारे ॥ ४ ॥

पद (राग असावरी)

हरी रंग ज्यागे ताहा मन लोगे छ्योरी उपाधी से भागे रे ।
बाज्य[7] बजावे हरि गुन गावे । नीरगुन भेद बतावे ॥ १ ॥
शामसुन्दर की महिमा लीला । जब तक जीये में भावे ॥ २ ॥
रामदास को प्रेम की मुरत सुनत बच्यन[8] मों आवे ।

पद

भेख बनाया भेद न पाया मूंदल गंवाया रे ।
नाथ नीरंज्यन ज्यन में ज्यागे ॥ उसकी सुध न लाया रे ॥
आसन छ्योरी सुकासन ज्यावे आसनं पोढ़ न पाया रे ।
नाथ सनाथ का यो नहीं माना दास कहे क्या भाया रे ॥

पद

नाथ नाथ बुझ्ये सो नाथ हमारा ॥ वाको लछ्चन न्यारा रे ॥
कंथा काया मुद्रा माया उसमें नाथ छ्यपाया रे ॥
अलख ज्योगी बाज्ये सींगी उसमें ज्योगी नाच्यारे ॥
माई मुंठी मार ज्यलावे । दास के सो भाव्या रे ॥

पद

नंद के कान्ह गुवाला लाला शोभा तो आज्यु बनी ॥
तनु सुनील नीलालक नील । नील मुगुट मोर छाला ॥ १ ॥
अँखीया लाल उड़ाय गुलाल । लाल कीनी ब्रजबाला ॥ २ ॥
अधर लाल मुरली लाल लाल । लाल सरस कर ताला ॥ ३ ॥
तीलक पित वीभूखण पित । अबर पीत रसाला ॥ ४ ॥
मलयज सेत मुगुट मणीसेत । सेत फुलन को माला ॥ ५ ॥

---

१. मरा रे । २ आलम । ३. तीर्थ । ४. कब तक । ५. ढूढ़ता है । ६. जमीन ।
७ वाद्य । ८. बचन ।

नवरस नागर शाम मनोहर। सुन्दर मुरत गुपाला ॥ ६ ॥
बारि बारि ज्यावे ब्रजनारि। देखत दास प्रतिपाला ॥ ७ ॥

पद

पर कामिनि संगत पिरत चलावत निकट अंग जैसे दूध पीलाई।
ज्यानि को रंग बोरंग न मानत। ज्यानत मानीनी सुखदाई ॥
अब काम ईहाँ, कब राम कहाँ। सुख भावत होवत होवत हारी।
दास कहें जन को मन राखत सज्जन काह करे अविकारी॥ १ ॥
पर पुरुष कुं जोवत कामीनी जैसो चकोर मयंक सुनाहि[1]।
नैन सुनैन मीलवत पीरत नाहि ज्यु कछु की कब कान मानहि ॥
दास को रस बोर स जु च्यातक चीत नहीं कल पावे।
ऐसो पती भीगे पलखें तो राम के दासन को पद आवे ॥

पद

मेरे रामधनी धनी रे मोहे काहा कमी रे।
राम साहेब मेरा मागना क्या है बीच्यारा ॥
मेरि बाच्या[2] तेरो नाम दीन दीन लेते ज्यावे।
काम न भावे धाम न भावे ज्याहाँ ताहाँ राम भावे ॥ १ ॥
रामदास कहे तोकु मागों सो तु मों कहे कुं देरे।
तेरो प्रेम मेरो अंतर ज्यामी रहण दे रे ॥ २ ॥

पद

मोहन च्योरहूँ पकर ये।
इन मोकुं बहु बेर ठगायो अब के बेर छपरचो[3] ॥
शाम सुन्दर सुं भेख फीरायो चंबकत चंबकत[4] आयो मोहन।
बन्धन तोरि मटकी फोरी माखन सो सब खायो ॥
यही ज्योंरतें[5] गोकुल पकर्‌यो ग्वारिनी हाथ बंधायो ॥
अब तो हुँ भगती उखल संग भाव रसा गह लीयो ॥ २ ॥
तब गोकुल थे राधाजी छुरायो अब तुम कौन छूरावे मोहन।
रामदास प्रभु प्रेम सुं बांध्यो अब कैसो ज्यान पावे मोहन ॥
ज्योर हुं पकर्‌यो ॥

---

१. सुनते हैं। २. वाचा। ३. सपड़ा मिला (मराठी सपढ़ला) ४. चमकते-चमकते। ५. जोर से।

पद

भजले भाई तुजे राम दुहाई ।।
भजले बाबा भजले भाई भजले राम संगाती।
राम बीना सब धंदा गंधा कोउ न आवे साथी ।। १ ।।
राम नाम से काम बिगरो दुनियाँ है रे झूठी।
काल कलां तुजे मार पड़ेगी बाट न ज्यावे खोटी ।। २ ।।
सात बीसार्तांहि छांड़ गये रे कोण करे तो लेखा।
रामदास कहे राम भजन से मीटें करम की रेखा ।।

पद

ज्यागो ज्यागो भाई ज्यम[१] से करो लड़ाई ।।
ज्यागो ज्यागो बुड्यो मन में माया धंदा झुटा।
पलख पल मों खल्लक देखत आया काल चपेटा ।। १ ।।
दृढ़ भगती की सील्ले पेनो येक भाव का घोड़ा।
राम नाम जप माला देखत भागे काल भगोडा ।। २ ।।
को लंगर कब अमर भयो है दो दीन की जिनगानी।
खीण[२] खीण घटत बढ़त नहीं कबहूँ ज्यों अंजुल को पानी ।।
रामदास कहे प्रभुजी को सेवक सुन रे मेरे भैया।
मानुख जनम गवाया तो तु अंतकाल पछताया ।।

पद

गगन हमारी गुफा अवधु ब्रह्मांड हमारी देहली।
जत हमारि कसौटी अवधु सत हमारि झोली बाबा ।। धृ ।।
हम बैरागी गुरु के चेले नीत्य नीरंजन खेलें यकले।
अनुभव हमारी मुद्रा अवधु प्रची (परिचय) हमारी दंड बाबा ।।
ज्ञान वीभुति भस्म चढ़ाउँ तो फीरत दस खंड बाबा।
धरमी हमारी पात्र अवधु अंबर हमारा प्याला बाबा ।।
हरिप्रसाद बोले नीत्य जोगी रामदास मतवाला बाबा ।।

---

१. यम । २. क्षण ।

पद

माई[1] रे मोरे नैन शाम सुरंग ।।
तरु तमाल[2]
खग मृग किट पतंग ।
गगन सघन धरती सु सग ।
लीन दिखत मोहन रंग
रामदास प्रभु रंग लागा ।
(और) सब भये बिरंग ।।

पद

गोबिंदे मुख मोरे राघव मुख मोरे ।।
छुटत लख चौऱ्यासी फेरे ।
लागत ज्यम पग मोरे ।
अस्टहि सिधि भई तेरी दासी
(पर) 'दास' तो जनम उदासी ।।

पद

राम भजन कुं ढील न करिये । काल कसाई कुं मन डरिये ।
ढील छोरि ढीवर उदधारे । पतीत व्याध बैकुंठ सीधारे ।।
ढील छोरि[3] ये दास भी गावे । रसना अनुदीन रामु जपावे ।

पद

राम को नाम यदी घट गावे ।
नीशान बज्यावत बेकुंठ जावे ।
रखुमागद तीर्थीत्रय कुं गावे ।
नगरि समेत बीमान चऱ्हावे[4] ।।

पद

गज्यपति[5] गणिका रामहि गावे ।
तन समेत बैकुंठ कुं ज्यावे ।।

---

१. माई (माँ) । २. इसके आगे के शब्द अस्पष्ट हैं । पोथी जीर्ण है ।
३. आलस्य त्यागकर । ४. चढ़ावे । ५. गजपति ।

कहे रामनाम ही गाउँ।
बैकुंठ कुं बैकुंठ ली ज्याऊँ[१] ॥

पद

सुन मेरी रसना राम उच्चारो।
राम रस लीये रस डारो ॥
खीर खांड तुकु मानत नीको।
राम रस पाइये और रस फीको ॥
रामदास कहे सुन रसना मेरि।
राम भगति बीन गती नहीं तेरि ॥

पद

मेरा बुहुत नाम।
ऐसा दुज्या कवन है रे किसकुं करं सलाम ॥
हत्ती घोड़े कोट ही कोट चले दल बादल ॥ १ ॥
रामचंद्र की फौज उठावे तो दल मेरण खुं दल ॥ २ ॥
तीन्ही लोक में उपर रावण उसकुं कीया खेव ॥ ३ ॥
तेथीस कोटी देव छुराये सब देवन को देव ॥ ४ ॥

पद

गौडी। दशरथ के द्वार। जाय चकीत भये।
ताहा[२] पवन की गती स्थीर भये नारद तुंबर गावतु है ॥
ताहा पवं[३] धोमी धोमी दुंदभी बाजतु है।
रामदास बली ज्यावतु है ॥ २ ॥ कल्याण ॥

(यहाँ जो कल्याण का नाम है, वह समर्थ रामदास के शिष्य का है, जो उनके पदों को लिखता जाता था।)

पद

आया बे जोगी आया।
जोगी आया ॥
सींगी न पत्र बीभुति न बटवा।
नहिं कछु मुद्रा मायां ॥ १ ॥

---

१. ले जाऊँ। २. तहाँ। ३. पवन।

नाग चर्म बोहरे (ओढ़े) बाघंबर पेहरे ।
जटाजूट बनाया ॥ २ ॥
रामदास साहि अंतरवासी ।
रयन दिन झुले काया ॥

पद

हरी गुण गा रे तब कैसे गावेगा ।
काल निकट[1] जब आवेगा ॥
जैब कफ[2] कंठ दबावेगा । तब सास[3] न ले पावेगा ॥ १ ॥
गले फासी जम देवेगा । तब कोन हात्त गह लेवेगा ॥ २ ॥
जीमो विचीत्र दुख पावेगा । तब कौन सुमीत्र बच्यावेगा ॥ ३ ॥
पाव[4] संसार क सोवेगा । तब आस पास जन रोवेगा ॥ ४ ॥
ऐसा दाह[5] जब जब होवेगा[6] । तब[7] रामदास कब होवेगा ।
ज्याके हृदों में बद्ध नहीं । अकल की मुह शब्द नहीं ॥
लोभिया गुरुमुख नहीं । कीर्तन कीया तो क्या हुआ ॥ १ ॥
जो ग्यान में सामील नहीं । तन मु दया भी तिल नहीं ।
सद्भाव में काबील नहीं । माला लिया तो क्या हुवा ॥ २ ॥
काया के मन को थाटकर ममता स्त्रिया सों पाटकर ॥
सोया बीशया के खाट पर । हर हर कीया तो क्या हुवा ॥ ३ ॥
जिते पितर कु कुछ नहीं । जीन के जीकर कु इष्क नहीं ।
चांटाल उसकु शक नहीं । तर्प न क्रिया तो क्या हुआ ॥ ४ ॥
कुत्ता हुआ माहाल का धंधा करे जंज्याल का ।
आया तीरथ कर द्वारका । कासी गया तो क्या हुवा ॥ ५ ॥
गबगबा करे संसार का । जो कुज डा वा जान का ।
इष्क नहीं उस राम का । जीता मरा तो क्या हुआ ॥ ६ ॥
आपकु जीता तो था नहीं । तन मन कु खोया नहीं ।
मनमैलु के धोया नहीं । अंगुल[8] कीया तो क्या हुवा ॥ ७ ॥

●●

१. निकट । २. जव कफ से कंठ । ३. श्वास । ४. पाँव । ५. डाव (मौका) ।
६. खोवेगा । ७. तब नहीं है । ८. स्नान ।

कविता का शाश्वत स्वरूप

कविता का शाश्वत स्वरूप क्या हो, यह जानने के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि स्वयं कविता क्या है ? आश्चर्य यह है कि कविता युग-युगों से व्याख्यायित होते हुए भी अव्याख्यायित ही रह गयी है । जिस प्रकार विहारी की नायिका के रूप को चित्र में उतारने के लिए न जाने कितने चित्रकारों की तूलिकाएँ असफल हो गयीं उसी प्रकार काव्य के स्वरूप को शब्दों में उतारने में भाष्यकारों की लेखनियाँ आज तक सफल नहीं हो पायीं । काव्य-सुन्दरी अन्तर में ही जिस अनिंद्य छवि को अनुभूत कराती है वह शब्दों में वर्णित हो ही नहीं सकती । इसीलिए एक समीक्षक ने कहा है कि हमें कविता की व्याख्या बालक के इस सहज उत्तर में ही समझ लेनी चाहिये कि कवि जो लिखता है वही कविता है । और व्यक्ति की कवि-संज्ञा कब होती है ? तभी जब वह काव्य सृजन के क्षणों में समाधिस्थ रहता है । उसके अन्तर में अनुभूति का सत्य जिस क्षण विजली के समान कौंध उठता है उसी क्षण तक वह कवि होता है और यह अनुभूति, उसकी प्रातिभ ज्ञानजन्य कल्पना से उसके हृदय में भावों का विम्ब खड़ा करती है और क्रोचे के अनुसार कवि के अन्तर में ही अभिव्यक्त हो जाती है । वह बाहर तभी व्यक्त होती है जब कवि को उसे सम्प्रेषित करने की इच्छा होती है । क्रोचे का मत है कि कविता का शब्दमय रूप अनुभूति को स्मृति जागृत करने का कार्यमात्र करता है । वाह्य अभिव्यक्ति कविता के सर्जन की अनिवार्य शर्त नहीं है । परन्तु यदि कविता कवि के अन्तर में गुंजित रहने वाली कला, है तो वह सर्वथा व्यक्ति का आह्लाद मात्र है, उसका सामाजिक उपयोग नहीं है । और कोई भी 'कला' व्यक्ति के दायरे में बँध कर जीवन्त नहीं रह सकती; उसे समष्टि-ग्राह्य बनना ही होगा ।

कविता का बाह्य अंग शब्द और आन्तरिक अंग अर्थ है । इसीलिए भामह ने काव्य में शब्द और अर्थ की समभावावस्था स्वीकार की है (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्) । कविराज जगन्नाथ ने भामह के विशेष्य 'शब्द' को विशेषण प्रदान कर कहा ''रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'' । केवल शब्द काव्य कैसे हो

सकता है ? शब्द में रमणीय अर्थ को व्यंजित होना ही होगा । विश्वनाथ ने 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' को व्यंजना और आगे बढ़ाकर कहा "रसात्मकं वाक्यं काव्यम्" । केवल रमणीयार्थक पद काव्य नहीं हो सकेगा—पूरा रसमय वाक्य ही काव्य की संज्ञा का अधिकारी है । यहाँ 'वाक्य' से तात्पर्य पूर्ण काव्य से है । शब्द और अर्थ की अभिन्नता कालिदास और तुलसी ने भी प्रतिपादित की है—

"गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न, न भिन्न ।"

संस्कृत के आचार्यों ने काव्य की शाश्वतता का अनुसन्धान कई दिशाओं में किया है । भरत ने काव्य की आत्मा 'रस' में भी देखी है, जो 'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोग' से निष्पन्न होता है । भामह ने अलंकार में काव्य की शाश्वतता निर्दिष्ट की क्योंकि जो तत्व काव्य को सौन्दर्य प्रदान करता है, उनमें निश्चय ही शाश्वत रहने के गुण हैं ।

वामन ने विशिष्टपद रचना में काव्य का सौन्दर्य निरूपित किया । विशिष्टपद रचना काव्य-गुण का कारण है और काव्य-गुण रसाश्रित रहते ही हैं । अत: वामन का रसवादियों से विरोध नहीं रह जाता । आनन्दवर्धन ने ध्वनि को 'काव्य का जीवितम्' सिद्ध किया । उनके मत से काव्य का सौन्दर्य शब्द की अभिधा से नहीं, व्यंजना से ही निखरता है जिस रचना का अर्थ (Half concealed half revealed) कुछ निमीलित और कुछ उन्मीलित होता है वह सहृदय पाठक को अधिक आह्लादित करता है और जिस रचना में यह गुण होता है वह कालजयी निश्चय ही होती है । कुंतक ने कहा, ध्वनि क्या है ? वक्रोक्ति का ही तो रूप है । अत: क्यों न वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा स्वीकारा जाय ? क्षेमेन्द्र औचित्य में काव्य की शाश्वत स्थिति स्वीकार करते हैं । पर जब हम काव्य को सामाजिक रसास्वाद की वस्तु समझते हैं, तो उसकी अभिव्यक्ति में औचित्य स्वयं समाहित है । आनन्दवर्धन का मत अधिक आधुनिक है । उन्होंने काव्य की तीन श्रेणियाँ वर्णित की है—उत्तम, मध्यम और और अधम । वे व्यंग्य प्रधान काव्य को उत्तम, गुणीभूत व्यंग्य को मध्यम और चित्रकाव्य को अधम काव्य कहते हैं । पर हम काव्य को श्रेणीवद्ध करने के पक्ष में नहीं है । यदि उक्ति 'काव्य' है तो उसकी मध्यम और अधम संज्ञा बेमानी है । ध्वनिवादियों ने भी ध्वनि में 'रस' की स्थिति स्वीकार की है । वे कहते हैं—'रस ध्वनित ही होता है ।' इस तरह प्राय: प्रत्येक काव्य-सम्प्रदाय

प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रीति से काव्य की आत्मा 'रस' स्वीकार करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि काव्य का वही स्वरूप शाश्वत है जिसमें रस की व्यंजना है।

आज का कवि रस-सिद्धान्त को अमान्य करता है। उसके मत से आज के 'काव्य' में भारतीय शास्त्र की परिभाषा में 'रस' की अवस्थिति सम्भव नहीं है। रस की निष्पत्ति के मूल में रागात्मक भाव अनिवार्यतः रहते हैं, आज की कविता के मूल में विचार की स्थिति अनिवार्य हो गयी है। एक का सम्बन्ध हृदय की रागात्मिका वृत्ति से है, दूसरी का संबंध विशुद्ध बौद्धिकता और समसामयिकता से है। जो कविता वर्तमान की सामाजिक, राजनीतिक स्थितियों की अभिधात्मक या व्यंग्यात्मक वर्णन मात्र करती है, उसमें शाश्वतता के चिह्न नहीं खोजे जा सकते। काव्य को शाश्वत स्वरूप प्रदान करने के लिए जहाँ उसमें भाव और प्रातिभ ज्ञान समन्वित कल्पना की स्थिति आवश्यक है, वहाँ उसकी अभिव्यक्ति रिद्म, (Rythm, लयता) काव्य में भी चाहिए। समस्त सृष्टि में एक 'लय' है, मानव हृदय की गति में भी एक लय है। काव्य में वह शब्दों के चातुर्यपूर्ण चयन से उत्पन्न की जा सकती है, लयात्मक प्रगीतों का जीवन, लयहीन अतुकान्त उक्तियों से अधिक दीर्घ होता है।

आज की कविता वैज्ञानिक उपकरणों से उपमानों का ग्रहण करती है, जो उसकी सम्प्रेषणीयता में बाधक बन रहे हैं। हमारे मत से कविता प्रकृति से दूर हट कर दीर्घायु प्राप्त नहीं कर सकती। आज की कविता में नये-नये बिम्ब और प्रतीक प्रयुक्त हो रहे हैं। इनसे हमारा विरोध नहीं है। कवि जब अपनी अनुभूति को सामान्य शब्दों में व्यक्त नहीं कर पाता तो वह प्रतीकों का सहारा लेता है। प्रायः कहा जाता है कि काव्य में अधिकाधिक प्रतीकों से वह दुरूह बन जाता है। काव्य के अर्थ के सम्बन्ध में पाश्चात्य विचारकों में मत-भेद है। कैथरिन विल्सन ने कहा है 'किसी कविता का अर्थ उस कविता के सिवा और कुछ नहीं है।' लीविस के मत से कविता का अर्थ वही है जिसे उसका पाठक अपने अन्तर की अनुभूतियों के द्वारा समझता है। मार्जरी बुल्टन ने बड़े रोब के साथ कहा है कि जो कविता का अर्थ पूछते हैं वे उसके या कवि के शत्रु ही हैं। ये आलोचक कविता के शाब्दिक माने खण्ड-खण्ड अर्थ की अपेक्षा उसके अखंड रूप को समझना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में वे अर्थ की अपेक्षा 'प्रभाव' को ही ग्रहण करना चाहते हैं। परन्तु डोनाल्ड डेवी करमोड जैसे समीक्षक काव्य में अर्थ की उपेक्षा के पक्षपाती नहीं हैं। उनका मत है कि काव्य समाज के उन व्यक्तियों के लिए रचित होता है जिनका देश-काल से सम्बन्ध है। अतः काव्य

में भाषा की देशकाल सम्मत अर्थ-प्रकृति की रक्षा होनी ही चाहिये। तभी वह सम्प्रेष्य हो सकता है, जो काव्य में इस तत्व को अनावश्यक बतलाते हैं उनसे पूछा जा सकता है कि फिर यह काव्य-हविष्य किस देवता के लिए है ? क्या केवल कवि ही अपने काव्य का सृष्टा और भोक्ता रहना चाहता है ?

संक्षेप में काव्य के शाश्वत स्वरूप के मुख्य तत्व हैं—उसकी रसात्मकता, प्रेषणीयता, संवेदना को प्रेरित्त करने की क्षमता और लयबद्धता। लयता छन्दोबद्ध हो सकती है या विशिष्ट पद-संरचनाजन्य भी हो सकती है। विश्व के महाकाव्य इन्हीं तत्वों के कारण देश-काल की सीमा लाँघ चुके हैं।

प्राक्छायावादी काल के
छायावादी कवि मुकुटधर पाण्डेय

अपने ही स्मृति-संदर्भों में

बहुत पुरानी बात है। नागपुर के विज्ञान महाविद्यालय की हिन्दी साहित्य समिति के वार्षिकोत्सव में कवि-सम्मेलन आयोजित किया गया था। स्थानीय कवि काव्यालाप कर रहे थे। स्रोता कभी हँसते, कभी तालियाँ पीटते और कभी 'सी-सी हू-हू' आदि आवाजें कसते। इसी समय आयोजक महाशय ने 'माइक' पर आ कर घोषणा की : "उपस्थित देवियों तथा सज्जनों ! आपको यह जान कर प्रसन्नता होगी कि आज हमारे बीच हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ कवि श्रेष्ठ पण्डित मुकुटधर जी पाण्डेय विराजमान हैं। अब शान्त हो कर उनकी सरस कविता का रसास्वाद लीजिए।" घोषणा के पश्चात ही गेहुएँ रंग के गठीले प्रौढ़ व्यक्ति जो सफेद धोती और कुर्ता पहने हुए थे, सहमते-सकुचते-से धीरे-धीरे खड़े हुए और बोले : "सज्जनों ! मैं कोई रससिद्ध कवि नहीं, कविकिंकर मात्र हूँ, ग्रामवासी हूँ।" इतना कह कर वे एक छोटी-सी रचना सहज भाव से सुना कर सहमते-सकुचते-से एक कोने में बैठ गये। मेरे मन ने उन्हीं की एक पंक्ति दुहरायी : "ऋत्विज हो तुम महायज्ञ के रहते हो पर मौन !" और मुझे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास की वे पंक्तियाँ याद हो आयीं जिनमें उन्होंने पाण्डेय जी को छायावादी कवियों का प्रेरणा-स्रोत कहा है। उन्होंने लिखा है : **"छायावाद के पहले नये-नये मार्मिक विषयों की ओर हिन्दी कविता प्रवृत हो रही थी। कसर थी तो आवश्यक और व्यंजक शैली की, कल्पना और संवेदना के अधिक योग की—तात्पर्य यह कि छायावाद जिस आकांक्षा का परिणाम था, उसका लक्ष्य केवल अभिव्यंजना की रोचक प्रणाली का विकास था, जो धीरे-धीरे स्वतन्त्र ढर्रे पर श्री मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पाण्डेय आदि के द्वारा हो रहा था।........गुप्त जी तो किसी विशेष पद्धति या 'वाद' में न बँध कर कई पद्धतियों पर अब तक चले आ रहे हैं पर मुकुटधर जी बराबर नूतन पद्धति पर ही चले।"**

यह उनके प्रथम दर्शन थे। पर जब सन् १९५८ में उनके ही निवासस्थान रायगढ़ में शासकीय स्नातक कला-विज्ञान महाविद्यालय के प्राचार्य-पद पर मेरा स्थानान्तरण हुआ तब तो स्वयं उनके और उनके परिवार के साथ अत्यधिक आत्मीय सम्बन्ध स्थापित हो गया और प्रायः उनके दर्शनों का लाभ मिलता रहा। वे अपने सम्बन्ध में बहुत कम पर दूसरों के सम्बन्ध में अधिक बोलते और उनकी जी खोल कर प्रशंसा करते। उनकी सहृदयता का क्या कहना! एक बार वे मुझे अपने गाँव बालपुर ले गये। संध्या को वहाँ पहुँचना था। जीप के गड़बड़ा जाने से हम लोग तनिक बिलम्ब से पहुँचे। ग्राम-सीमा पर देखा तो उनके अग्रज श्री मुरलीधर जी पाण्डेय कई ग्राम-वासियों के साथ घण्टों से हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। वे हमें गाजे-बाजे के साथ सोल्लास अपने निवासस्थान पर ले गये। अतिथि-सत्कार का यह रूप अप्रत्याशित था, अपूर्व था। उनका मकान महानदी के किनारे है, जो अनेक साहित्यिकों और साधु-संतों के पद-चिह्नों से पावन बनता रहता है। उनके ज्येष्ठ भ्राता स्वर्गीय लोचन प्रसाद जी पाण्डेय भी द्विवेदी-युगीन 'सरस्वती' के प्रसिद्ध कवि ही नहीं, पुरातत्व के पण्डित भी रहे हैं। उन्होंने महानदी-तट से न जाने कितने ही ताम्रपत्र खोज कर उनके आधार पर महाकोसल के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डाला है। उनके जीवन-काल में बालपुर का यह पाण्डेय-भवन साहित्य और इतिहास-प्रेमियों का तीर्थस्थान रहा है। वहाँ एक छोटी-सी कवि-गोष्ठी हुई और महानदी में नौका-विहार भी। ग्रीष्म की चाँदनी-आवेष्टित रात में शान्तप्रवाही महानदी के वक्षःस्थल पर नाव में बैठे-बैठे संतरण अत्यन्त आह्लादकारी था। मन नाव के साथ ही डोल-डोल उठता और आँखें मुकुटधर जी की आँखों से मिल कर कृतज्ञता ज्ञापित करतीं। वरिष्ठ कवि से इतना सहज स्नेह-भाव जीवन में प्राप्त कर मैंने अपने रायगढ़-निवास को धन्य माना। रायगढ़ छोड़ने के पूर्व मैंने उनसे एक दिन उनके साहित्यिक जीवन के सम्बन्ध में जानने का जब आग्रह किया, तब उन्होंने जो कुछ कहा उसे उन्हीं के शब्दों में रखने का यत्न कर रहा हूँ। वे बोले :

'पूजा-फूल' के दिन

"मैं १२ वर्ष की उम्र से ही तुकबन्दी करने लगा था। सन् १९०७ में जब मेरे पूज्य पितृदेव स्वर्गवासी हुए तब उनके वियोग में, मुझे स्मरण है, मैंने कुछ लिखा था, पर पीछे मैंने उसे फाड़ दिया था। पहले-पहल अपनी रचनाएँ दूसरों को दिखाने में संकोच होता था। सन १९०९ में मेरा प्रथम पद्य, जिसका

स्वर्गीय पूज्याग्रज पं० लोचनप्रसाद ने संशोधन किया था, आगरे के 'स्वदेश बान्धव' में छपा। तब से सन् १९१५ तक के पद्यों का संग्रह 'पूजा-फूल' के नाम से मुरलीधर-मुकुटधर के युग्म नाम से छपा था। इसे इटावा के ब्रह्म प्रेस ने प्रकाशित किया था। 'पूजा-फूल' में मेरे प्रारम्भिक पद्य हैं जिनमें अधिकांश वर्णनात्मक हैं। सन् १९१५ में मैं प्रयाग विश्वविद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा में उत्तीर्ण हो कर प्रयाग के एक महाविद्यालय में भरती हुआ। पर अस्वास्थ्यवश मुझे पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। घर में ही मैंने हिन्दी, अंग्रेजी, बँगला और उड़िया साहित्य का अवलोकन और अनुशीलन किया। मेरे गद्य-पद्यात्मक लेख तत्कालीन मासिक पत्रों में छपने लगे। धीरे-धीरे मैं भावात्मक पद्य लिखने लगा, और वे 'सरस्वती' में छपने लगे, जो उस समय हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका मानी जाती थी। पूज्य द्विवेदी जी ने मेरा नाम 'सरस्वती' की फ्री लिस्ट में दर्ज कर दिया। यह बात उस समय बड़े सम्मान की समझी जाती थी। पूज्य द्विवेदी जी ने मुझे लिखा था, आप वर्ष में कोई भी तीन रचनाएँ भेज दिया कीजिए। उनकी सीख थी : 'कम लिखिये पर अच्छा लिखने की कोशिश कीजिये। दो-चार कविता लिख कर ही आदमी अमर हो सकता है और यों बहुत लिखने पर भी सौ पचास वर्षों के बाद लोग नाम तक याद नहीं रखते।'

"मेरी नयी उम्र थी। सौन्दर्य के प्रति मन में एक आकर्षण था। मैंने 'रूप का जादू' लिखा, जिसे 'सरस्वती' के प्रथम पृष्ठ में स्थान मिला। शायद सन् १९१८ की बात है, ठीक-ठीक स्मरण नहीं। उसी समय की एक रचना की दो पंक्तियाँ याद हैं—

> कुटिल-केश-चुंबित कब उसके मुख-मंडल का हास,
> मेरे मलिन लोचनों को फिर देगा दिव्य प्रकाश

वह काशी की 'आर्य-महिला' में छपी थी। मैंने उर्दू की बहरों में भी कुछ गीत लिखे—

> गीत जो प्रीत के प्राण-धन गा गये
> नेह के मेह मेरे नयन छा गये

अंतस्सौन्दर्य का अंकुरण

"इनमें शारीरिक सौंदर्य और भौतिक प्रेम की ही प्रधानता थी। पर धीरे-धीरे मेरे पद्यों में अन्तस्सौन्दर्य एवं आध्यात्मिक प्रेम की झलक दिखलायी पड़ने लगी। यह परिवर्तन कैसे हुआ, मैं ठीक-ठीक कह नहीं सकता। सन् १९२०

के लगभग मैंने स्वर्गीय 'निराला' के आग्रह से एक गीत लिखा था, जो 'समन्वय' के प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित हुआ था :

आओ, हे घनश्याम उदार,
आओ, प्रेम-वारि बरसाओ
विटप-बेलियों में लहराओ,
आओ, झरनों से मिल गाओ
हे कवि कुशल अपार ।

तब 'निराला' जी सूर्यकान्त त्रिपाठी थे, 'निराला' नहीं बने थे ।

"इसी समय 'आर्य महिला' के सम्पादक रामगोविन्द त्रिवेदी ने 'ध्रुव तपस्या' का चित्र भेज कर उस पर कुछ लिख देने का आग्रह किया । मैंने निम्नलिखित पद्य लिख भेजा था :

क्या हुआ कर मेरा अवमान ! दिया जो मुझे पिता ने त्याग
न तो क्या परम पिता भी कभी, दिखावेगा मुझ पर अनुराग ।
विपिन में मुझको अनुचर-वृंद झुकावेंगे न भले निज माथ,
हरिण तो होंगे मेरे सखा, विहग तो देंगे मेरा साथ ।

इस पद्य पर काशी के 'भारत-धर्म-महामंडल' ने मुझे रौप्यपदक और प्रमाणपत्र प्रदान किया था ।

"मैं शरद ऋतु की रात्रि में बाहर निकल पड़ता और नीलाकाश में चमकते हुए तारों को देख कर चमत्कृत हो जाता । एक पद्य का भाव है—हमारा प्रेम केवल इस लोक तक सीमित नहीं, हम मृत्यु के बाद भी साथ रहेंगे, और :—

देखेंगे नक्षत्रों में जा उनका दिव्य प्रकाश,
किसकी नेत्र-ज्योति है अद्‌भुत, जिसके मुख का हास ।

आषाढ़ की ऊष्मा में किसानों को खेतों में हल चलाते हुए 'हलिया' गाते सुन कर मैं कह उठता था :

खेतों में यों आर्त स्वर से, यह किसको है रहा पुकार,
छोड़ जन-संकुल नगर-निवास, किया क्यों विजन ग्राम में गेह ?
नहीं प्रासादों की कुछ चाह, कुटीरों से क्यों इतना नेह ?
विलासों की मंजुल मुसकान, मोहती क्या न तुम्हारे प्राण ?

इस रचना पर लखनऊ की 'माधुरी' ने स्वर्णपदक प्रदान करने की घोषणा की थी।

छायावाद : नामकरण का रहस्य

"कुररी के प्रति' की कुछ पंक्तियों की रचना रात्रि में कुररी के करुण स्वर सुन विस्तर पर पड़े-पड़े मैंने मन में ही कर डाली थी। बहुत दिनों के बाद जब कुछ लोग मेरी गणना 'छायावाद' के प्रवर्तकों में करने लगे और 'कुररी' को प्रतिनिधि कृति मानने लगे, तब मुझे आश्चर्य हुआ और मैंने अनुभव किया कि 'छायावाद' लिखा नहीं जाता, लिख जाता है। सन् १९२० के लगभग जबलपुर की 'श्रीशारदा' में मैंने 'छायावाद' पर एक लेखमाला लिखी थी। उसमें 'प्रसाद' जी के 'झरना' का उल्लेख हुआ था। लेख लिखने के पूर्व मैंने हिन्दी के पुराने आचार्यों से उस समय की नयी कविता के नामकरण पर सम्मति माँगी थी। किसी ने भक्तिवाद और किसी ने अध्यात्मवाद सुझाया। बँगला में 'छायावाद' शब्द का चलन नहीं हुआ था। अत: यह शब्द बँगला से हिन्दी में नहीं आया। यह नाम सर्वथा मेरा गढ़ा हुआ है और मैंने परोक्ष सत्ता के प्रति अस्पष्ट रूप से व्यक्त भावों की रचना के लिए इसे प्रयुक्त किया था।"

जब मैंने मुकुटधर जी से कहा कि परोक्ष सत्ता के प्रति व्यक्त भावों की रचना तो 'रहस्यवाद' से अभिहित की जा रही है, तो उन्होंने कहा : "ऐसी रचनाओं का 'रहस्यवाद' नामकरण श्री हरिऔध जी ने किया है। उन्होंने यह स्वीकार किया कि अन्तर्मुखी रचना की लाक्षणिक अभिव्यक्ति 'छायावाद' के अन्तर्गत आ सकती है। जिस समय मैंने नयी कविता का 'छायावाद' नाम रखा था, उस समय कविता में कोई 'रहस्यवाद' खोजने का प्रयत्न नहीं करता था। अत: मैं तो अस्पष्ट और संकेतात्मक अभिव्यक्ति वाली रचना को 'छायावादी' रचना कहता था— उसका आलंबन चाहे लौकिक हो, चाहे अलौकिक।" वे पुन: बोले : "परिस्थितियों ने मेरी साहित्यिक साधना को छिन्न-भिन्न कर दिया था। युग पर युग बीते जा रहे थे, 'प्रसाद' जी की अस्वस्थता का समाचार जान कर मैं उनके दर्शनों के लिए काशी पहुँचा। यह जान कर हृदय में बड़ा आघात पहुँचा कि वे 'मृत्यु-शय्या' पर पड़े थे। उनमें बोलने तक की शक्ति नहीं रह गयी थी। उन्होंने अत्यन्त धीमे स्वर में कहा : "आप छायावाद के प्रथम कवि हैं।" मैंने कहा : "मैंने तो आपका अनुकरण किया है।" उनके नेत्र साश्रु हो गये। बड़ा ही मार्मिक दृश्य था। आँखों में आँसू ले कर मैं नीचे

उतरा। उनके बगीचे में थोड़ा रुका। सोचा, यहीं किसी लता-वृक्ष के झुरमुट में एक दिन उनका 'झरना' बहा होगा, 'आँसू' बहा होगा।

"सन् १६२८ में कलकत्ते में काँग्रेस के अवसर पर महात्मा गांधी की अध्यक्षता में राष्ट्रभाषा-सम्मेलन हुआ था। बनारसीदास जी चतुर्वेदी उसकी स्वागत-कारिणी-समिति के मंत्री थे। सम्मेलन के मंच से श्री चतुर्वेदी जी की कृपा से मुझे एक कविता पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ था। उसकी चार पंक्तियाँ मुझे याद आती हैं :

सभ्यता - शिक्षा - कला - कलकूजिता
धन्य श्रीचैतन्य की यह बंग भू
रत्न-कांचन के सुभग संयोग-सा
आज हिन्दी की बनी है रंग भू

इतना कह कर कवि मौन हो गये। मैंने कहा : 'और कुछ ?' उन्होंने कहा : "कविता-कौमुदी, कविभारती और यत्र-तत्र संग्रहों में मेरी कविताएँ संगृहीत हुई हैं। उनसे मेरे काव्य और पूर्व-जीवन का वृत्तांत प्राप्त हो जायेगा। जीवन में परिस्थितियों से विवश हो कर मैं १० वर्ष तक (स्वाधीनता-पूर्व) रायगढ़-राज्य की सेवा में रहा। स्वर्गीय राजा चक्रधर सिंह ने मुझे अध्यापक से दंडाधिकारी बना दिया था। उनके दरबार में अनेक कवि, पंडित एवं गुणीजनों के सम्पर्क में आया। वे साहित्य और संगीत के बड़े प्रेमी एवं संरक्षक थे।"

संप्रति....

आजकल पाण्डेय जी कभी जगदलपुर, कभी रायगढ़ और कभी बालपुर में अपना जीवनयापन करते हैं। उनका जन्म-संवत् १९५२ (विक्रमाब्द) है। अरसठ वर्ष की आयु में स्वास्थ्य अभी डिगा नहीं है। काव्य रचना से भी सर्वथा विरक्ति नहीं हुई है। कामना है, उनका शरीर और मस्तिष्क वर्षों ऋषि-आयु तक स्फूर्त बना रहे। अंत में जिस कविता 'कुररी के प्रति' ने महावीर प्रसाद द्विवेदी के इतिवृत्तात्मक काव्य-युग को स्वच्छन्दतावाद के क्षीण आलोक से दीप्त किया और कवि को कीर्ति प्रदान की, उसे उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं हो रहा है।

: एक :

बता मुझे ऐ विहग विदेशी, अपने जी की बात।
पिछड़ा था तू कहाँ, आ रहा जो कर इतनी रात ?

निद्रा में जा पड़े कभी के ग्राम्य-मनुज स्वच्छंद।
अन्य विहग भी निज नीड़ों में सोते हैं सानंद।
इस नीरव घटिका में उड़ती है तू चिंतित गात।
पिछड़ा था तू कहाँ, आ रहा जो कर इतनी रात ?

: दो :

देख किसी माया प्रांतर का चित्रित चारु दुकूल ?
क्या तेरा मन मोह-जाल में गया कहीं था भूल ?
क्या उसकी सौन्दर्य-सुरा से गया हृदय तव ऊब ?
या आशा की मरीचिका से छला गया तू खूब ?
या हो कर दिग्भ्रांत लिया था तूने पथ प्रतिकूल ?
किसी प्रलोभन में पड़ अथवा गया कहीं था भूल ?

: तीन :

अंतरिक्ष में करता है तू क्यों अनवरत विलाप ?
ऐसी दारुण व्यथा तुझे क्या, है किसका परिताप ?
किसी गुप्त दुष्कृति की स्मृति क्या उठी हृदय में जाग ?
जला रही है तुझको अथवा प्रिय-वियोग की आग ?
शून्य गगन में कौन सुनेगा तेरा विपुल विलाप ?
ऐसी दारुण व्यथा तुझे क्या, है किसका परिताप ?

: चार :

यह ज्योत्स्ना रजनी हर सकती क्या तेरा न विषाद ?
क्या तुझको निज जन्मभूमि की सता रही है याद ?
विमल व्योम में टँगे मनोहर मणियों के ये दीप,
इंद्रजाल तू उन्हें समझ कर जाता है न समीप,
यह कैसा भयमय विभ्रम है, कैसा यह उन्माद ?
नहीं ठहरता तू, आयी क्या तुझे गेह की याद।

: पाँच :

कितनी दूर, कहाँ, किस दिशि में, तेरा नित्य-निवास ?
विहग विदेशी आने का क्यों किया यहाँ आयास ?
वहाँ कौन (नक्षत्र-वृंद) करता आलोक प्रदान ?
गाती है तटिनी उस भू की बता कौन-सा गान ?
कैसी स्निग्ध समीर बह रही कैसी वहाँ सुवास ?
किया यहाँ आने का तू ने कैसे यह आयास ?

●●

महादेवी की कविता

छायावाद-युग ने महादेवी को जन्म दिया और महादेवी ने छायावाद को जीवन। प्रगतिवाद के नारे से प्रभावित हो जब छायावाद के मान्य कवियों ने अपनी आँखें पोंछ कर भीतर से बाहर झाँकना प्रारम्भ कर दिया और अनन्त की ओर से दृष्टि फेर कर उसे मार्क्स पर केन्द्रित कर दिया तब भी महादेवी की आँखें भींगती रहीं, हृदय सिहरन भरता रहा, ओठों की ओट में आहें सोती रहीं और मन किसी 'निष्ठुर' की आरती उतारता रहा। दूसरे शब्दों में वे अखण्ड भाव से अन्तर्मुखी बनी रहीं।

छायावाद के उन्नायक पन्त ने 'रूपाभ' की प्रथम संख्या में उसका विरोध करते हुए लिखा था "इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पाषाण-सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।" भगवती चरण वर्मा ने प्रगतिवाद के युग में छायावाद की दीपशिखा संजोने वाली कवियत्री की 'विशाल भारत' में निर्दय भर्त्सना की थी, उसके भावैक्य और पलायन-प्रवृत्ति को प्रतिगामिनी कहा था। फिर भी महादेवी ने छायावाद की वकालत नहीं छोड़ी—"मनुष्य की वासना को बिना स्पर्श किये हुए जीवन और प्रकृति में सौन्दर्य को समस्त सजीव वैभव के साथ चित्रित करने वाली उस युग (छायावाद) की अनेक कृतियाँ किसी भी साहित्य को सम्मानित कर सकती हैं।--- उसने जीवन के इतिवृत्तात्मक यथार्थ चित्र नहीं दिये, क्योंकि वह स्थूल से उत्पन्न सूक्ष्म सौन्दर्य-सत्ता की प्रतिक्रिया थी। अप्रत्यक्ष स्थूल के प्रति उपेक्षित यथार्थ की नहीं जो आज की वस्तु है।"[१] कल्पना पराङ्मुखियों से भी उन्होंने कहा—"जीवन की समष्टि में सूक्ष्म से इतने भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह तो स्थूल से बाहर कहीं अस्तित्व ही नहीं रखता। अपने व्यक्त सत्य के साथ मनुष्य जो है और अपने अव्यक्त सत्य के साथ वह जो कुछ होने की भावना कर सकता है वही

---

१. 'आधुनिक कवि', भूमिका

उसका स्थूल और सूक्ष्म है। और यदि इनका ठीक सन्तुलन हो सके तो हमें एक परिपूर्ण मानव ही मिलेगा।"[१] जिस भीतर-बाहर के सन्तुलन की यह बात महादेवी ने सन् १९४० ई० में कही थी, उसी को दस वर्ष बाद पन्त ने प्रगतिवाद से मुख मोड़ कर 'उत्तरा' में उद्घोषित किया है।[२] पन्त के बाहर से भीतर लौटने की भविष्यवाणी भी महादेवी ने की थी—"हमें निष्क्रिय बुद्धिवाद और स्पन्दनहीन वस्तुवाद के लम्बे पथ को पार कर कदाचित् फिर चिर-संवेदन रूप सक्रिय भावना में जीवन के परमाणु खोजने होंगे, ऐसी मेरी व्यक्तिगत धारणा है।"[३] आज तो पन्त ही नहीं, 'निराला', 'अज्ञेय', राहुल आदि अनेक प्रगतिवाद के क्षेत्र से विमुख हो चुके हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है—"छायावादी कहे जाने वाले कवियों में महादेवी जी ही रहस्यवाद के भीतर रही हैं...अज्ञात प्रियतम के लिए वेदना ही इनके हृदय का भाव-केन्द्र है जिससे अनेक प्रकार की भावनाएँ छूट-छूट कर झलक मारती रहती हैं।"

प्रश्न यह है कि महादेवी की भावनाओं की 'झलकें' क्या रहस्यवाद की सीमा के अन्दर परिगणित की जा सकती है और क्या महादेवी का रहस्यवाद कबीर, जायसी, मीरा की परम्परा है? इन प्रश्नों का उत्तर देने के पूर्व संक्षेप में रहस्यवाद और छायावाद की सीमा समझ लेनी होगी। आ० शुक्ल इन दो शब्दों को इस प्रकार समझाते है—"छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिये, एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य-वस्तु से होता है अर्थात् कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रिय को आलम्बन बना कर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है, छायावाद शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में है। छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ, प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन। इस शैली के भीतर किसी वस्तु या विषय का वर्णन किया जा सकता है" (हिन्दी साहित्य का इतिहास)। 'काव्य में रहस्यवाद' में वे पुनः छायावाद का अर्थ स्पप्ट करना चाहते हैं—"जो छायावाद प्रचलित है वह वेदान्त के पुराने प्रतिबिम्बवाद का रूप है। यह

---

१. 'आधुनिक कवि', भूमिका

२. मैं बाहर के साथ भीतर की क्रान्ति का भी पक्षपाती हूँ ('उत्तरा', पृ० २६)

३. 'आधुनिक कवि'

प्रतिबिम्बवाद सूफियों के यहाँ से होता हुआ यूरोप में गया जहाँ कुछ दिनों पीछे प्रतीकवाद से संशिलष्ट हो कर धीरे-धीरे बंग साहित्य के एक कोने में आ निकला और नवीनता की धारणा उत्पन्न करने के लिए छायावाद कहा जाने लगा। यह काव्यगत रहस्यवाद के लिए गृहीत दार्शनिक सिद्धान्त का द्योतक शब्द है" (पृ० १४२-४३)।

आचार्य छायावाद को रहस्यवाद का पर्याय मानते हैं और शैली-विशेष भी। इससे विवेचना के क्षेत्र में यदि हम उन्हीं का शब्द प्रयुक्त करें तो 'गड़बड़-झाला' हो जाने की सम्भावना हो गयी है। विषय सुलझने की अपेक्षा अधिक उलझ गया है। महादेवी ने 'यामा' की भूमिका में इन 'वादों' की चर्चा करते हुए कहा है कि..."प्रकृति के लघु तृण और महान वृक्ष, कोमल कलियाँ और कठोर शिलाएँ अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड़ अंधकार और उज्जवल विद्युत-रेखा मानव की लघु विशालता, कोमल कठोरता, चंचलता, निश्चलता और मोहज्ञान का प्रतिबिम्ब न हो कर, एक ही विराट से उत्पन्न सहोदर है। जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया गया जिसका एक छोर किसी असीम चेतना और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था, तब प्रकृति का एक-एक अंश अलौकिक व्यक्तित्व ले कर जाग उठा। परन्तु इस सम्बन्ध में मानव हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी, क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरल नहीं बन पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। इसी से इस अनेक रूपता के कारण पर एक मधुर व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना, इस काव्य (छायावाद) का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्य-वाद का नाम दिया गया है।

महादेवी ने भी छायावाद और रहस्यवाद को एक-दूसरे का पर्याय मान लिया है। परन्तु छायावाद-युग की रचनाओं का विश्लेषण कर लेने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ये दो शब्द भिन्न अर्थों के द्योतक हैं। छायावाद के काव्य में अन्तर्मुखी प्रवृत्ति प्रधान है। उसके लिए परोक्ष सत्ता के प्रकाशन की अनिवार्यता नहीं है। उसमें व्यक्ति की कोई भी अभावजनित अन्तर्व्यथा झलक मार सकती है, बाह्य सौन्दर्य के प्रति रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने के आयास की लक्षणात्मक अभिव्यंजना छायावाद की सीमा है और हृदय

की व्यक्त जगत् के प्रति जिज्ञासा और उसमें अन्तर्हित सूक्ष्म सत्य का आतुरतामय अन्वेषण रहस्यवाद की निकटता है। व्यक्त जगत् में साधक की हृदय-भूमि भी सम्मिलित है। तात्पर्य यह कि सभी अन्तर्मुखी रचनाएँ लाक्षणिक अभिव्यक्ति के साथ छायावादी कहला सकती हैं। पर सभी छायावादी रचनाएँ रहस्यवादी नहीं हो सकतीं। रहस्यवादी रचनाओं में अव्यक्त सत्य या सूक्ष्म के प्रति ललक अनिवार्य है और वह अव्यक्त सत्य निगुर्ण ब्रह्म का पर्याय होना चाहिये। ब्रह्म के सगुण रूप की अभिव्यक्ति में रहस्य कहाँ है? यह बात सत्य है कि निगुर्ण ब्रह्म सगुण सत्ता ले कर ही काव्य में उतरता है, क्योंकि भावना शून्य के आलम्बन पर ठहर नहीं सकती।

जब महादेवी की रचना में समीक्षक रहस्यवाद पाते है तब सम्भवत: वे उनकी रचनाओं के शाब्दिक अर्थ तक अपने को सीमित रखते हैं। महादेवी ने रहस्यवाद की साधनात्मक अनुभूति को स्पर्श किया है, यह संदिग्ध है। यह हमारा ही सन्देह नहीं है, उनको रहस्यवादी कहने वाले आचार्य शुक्ल को भी कहना पड़ा है "वेदना को ले कर जो अनुभूतियाँ उन्होंने रखी हैं वे कहाँ तक वास्तविक हैं और कहाँ तक अनुभूतियों की रमणीय कल्पना, यह नहीं कहा जा सकता।" 'दीपशिखा' की भूमिका में स्वयं महादेवी ने स्वीकार किया है— "यह आत्मानुभूत ज्ञान आत्मा के संस्कारण और व्यक्तिगत साधना पर इतना निर्भर है कि इसकी पूर्ण प्राप्ति और सफल अभिव्यक्ति सब के लिए सहज नहीं है।" ज्ञान से जो दार्शनिक सत्य उपलब्ध हो सकता है वह हृदय के माध्यम से ही अनुभव किया जाता है, तभी रहस्यवाद की सृष्टि होती है। इसमें सन्देह नहीं, महादेवी में निर्गुण सन्तों की वाणी का स्वर ध्वनित होता है, पर ध्वनि में उनकी जीवन-साधना की अनुभूति का कितना अंश है, यह स्पष्ट नहीं हो पाता। कबीर कहते हैं—

> "सुनु सखि पिऊ महिं जीऊ बसै,
> जिऊ महिं बसे कि पीऊ।"

यह आत्मा-परमात्मा का ऐक्य महादेवी के जीवन में साध्य हो सका है, यह हम नहीं जानते। निर्गुणी सन्त अपने में सृष्टि और सृष्टि अपने को कल्पना से नहीं, हृदय की ज्योति जगा कर देखते थे।

सन्तों के हृदय में उस सूक्ष्म की सघन संवदेना हुई थी। हक्सले ने बाह्य मन और बुद्धि के परे एक और शक्ति का अस्तित्व माना है, जिसे वह

'थर्ड थिंग' कहता है। इसी तीसरी वस्तु या शक्ति के द्वारा निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार सम्भव होता है। प्राचीन द्रष्टा ऋषि इस वृत्ति के अस्तित्व की बराबर घोषणा करते आये हैं जिसे वे साक्षात् ज्ञान, अनुभव ज्ञान या अपरोक्ष अनुभूति के नाम से पुकारते हैं। बुद्धि के नेत्र को नीचे छोड़ कर निर्गुणी सन्तों ने अनुभूति के इसी राज्य में प्रविष्ट होने का दावा किया है। यहीं उन्हें परम सत्ता का साक्षात्कार हुआ है। यह बात सत्य है कि अपनी अलौकिक अनुभूतियों को समझाने के लिए उन्हें स्थूल उपकरणों और लौकिक भाषा का आश्रय लेना पड़ा है।

सन्तों की वाणी में जो अनुभूत सत्य बार-बार प्रतिध्वनित हुआ है, वह सार रूप में इस प्रकार है—परमात्मा और आत्मा की पृथक् सत्ता नहीं है, परमात्मा आत्मा में ही समाया हुआ है। अतएव उसकी खोज बहिर्वृत्ति से नहीं, अन्तर्वृत्ति से सम्भव है।

महादेवी के काव्य में हम परोक्ष सत्ता की साक्षात् अनुभूति में विश्वास करने में इसलिए झिझकते हैं कि उनमें मध्ययुगीन सन्तों के समान सघन एक-स्वरता–सहज एकतानता प्रायः नहीं है। उनमें कभी अद्वैत के प्रति ललक झलकती है, कभी द्वैत के प्रति कामना उमड़ती है और कभी स्थूल के प्रति राग सजग हो उठता है।[1] उनमें प्रेमतत्व का प्राधान्य होने से उन्हें सूफिनी कहने का भी साहस किया जाता है। पर सूफियों की भी आध्यात्मिक श्रेणियाँ और परम्पराएँ हैं। महादेवी के काव्य में उनकी खोज करना उनमें सहज प्रकाशित प्रेमतत्व को भी अग्राह्य बनाना है। उनके काव्य को सूफियों से प्रभावित कहना भी उनका उपहास करना है।

---

१. अद्वैत का स्वर १—बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
२—मधुर राग तू मैं स्वर संगम, चित्र तू मैं रेखा क्रम।

द्वैत की भावना—तुम सो जाओ मैं गाऊँ
मुझको सोते युग बीते
तुमको यो लोरी गाते
अब आओ मैं पलकों में
स्वप्नों से सेज बिछाऊँ

स्थूल के प्रति राग—कह दे माँ क्या देखूँ ?
देखूँ खिलाती कलियाँ या प्यासे सूखे अधरों को
या मुरझाई पलकों से झरते आँसू-कण देखूँ।

इसी प्रकार महादेवी को मीरा की परम्परा में बतलाना भी कलाकार महादेवी को आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "युगों पीछे फेंक देना है।" मीरा की भक्ति साधनामूलक थी, महादेवी की काव्यसाधना कलामूलक है। उनका तथाकथित 'सूक्ष्म प्रिय' क्या मीरा के 'जोगी' का पर्याय हो सकता है ?

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महादेवी की रचनाएँ निर्गुणी सन्तों की एक लक्ष्योन्मुख सघन अनुभूति और उनके साधन-मार्ग परम्परा की नहीं है। उनके काव्य में व्यक्त 'सूक्ष्म' को कल्पना की सुन्दर सृष्टि मानते हुए भी हम उनकी काव्य-प्रेरणा की सजीव यथार्थता में अविश्वास नहीं करना चाहते। उसे हम जीवन की क्रूर विषम परिस्थितियों से विचलित और विकंपित मानते हैं। जगत् के अशोभन स्थूल सत्य के साथ सामंजस्य न हो सकने के कारण उनका भावुक मन आघात खा-खा कर अन्तर्मुखी हो गया है और वहीं अपनी अभिरुचि की स्वप्निल प्रतिमा के साथ क्रीड़ा करने लगा है। कभी उसके साथ मिलन-सुख अनुभव करता है, कभी स्त्रियोचित मान, अभिसार, शृंगार आदि का अभिनय करता है। परन्तु ज्योंही उसमें यह भाव जागृत होता है कि स्वप्निल प्रतिमा से स्थूल मिलन असम्भव है, वह विरह की वास्तविक स्थिति में आ कर विकल हो जाता है। कवियत्री के काव्य की प्रेरणा 'दीपशिखा' की इन दो पंक्तियों में मुखरित हो उठी है—

> **'मैं कण-कण में डाल रही अलि !**
> **आँसू के मिस प्यार किसी का,**
> **मैं पलकों में पाल रही हूँ,**
> **यह सपना सुकुमार किसी का।'**

सारी कविताओं का प्रेरणा-सूत्र इसमें है। इसी बात को एक स्त्री आलोचिका श्रीमती शचीरानी ने बहुत स्पष्ट शब्दों में यों व्यक्त किया है—"यौवन के तूफानी क्षणों में जब उनका अल्हड़ हृदय किसी प्रणयी के स्वागत को मचल रहा था और जीवन गगन के रक्ताभ पटल पर स्नेह-ज्योत्स्ना छिटकी पड़ रही थी, तभी अकस्मात विफल प्रेम की धूप खिलखिला पड़ी और पुलकते प्राणों की धूमिलता में अस्पष्ट रेखाएँ-सी अंकित कर गयी। आत्म-संयम का का व्रत ले कर उन्होंने जिस लौकिक प्रेम को ठुकरा कर पीड़ा को गले लगाया, वह कालान्तर में आन्तरिक शीलता से स्नात हो कर बहुत कुछ निखर तो गयी,

किन्तु उनके हठीले मन का उससे कभी लगाव न छूटा और वे उसे निरन्तर कलेजे मे चिपकाये रखने को मानो हठ पकड़ बैठीं।"

महादेवी ने कभी बहुत पहिले गाया था—"विसर्जन ही है कर्णधार, वही पहुँचा देगा उस पार।" यह तो स्पष्ट है कि महादेवी के इस विसर्जन में उल्लास नहीं, वेदना है, पर अपनी अभावजनित वेदना को छिपाने का उन्होंने सतत् प्रयत्न किया है। 'रश्मि' की भूमिका में उन्होंने लिखा है—"संसार साधारणतः जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है, वह मेरे पास नहीं। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर, सब कुछ मिला है, उस पर पार्थिव दुःख की छाया नहीं पड़ी। कदाचित् वह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी।" पर अपने ही कथन का मानो प्रतिवाद करती हुई वह एक स्थान पर लिखती हैं—"समता के धरातल पर सुख-दुख का मुक्त आदान-प्रदान यदि मित्रता की परिभाषा मानी जाय तो, मेरे पास मित्र का अभाव है।" सुख-दुख में समभागी होने वाले मित्र का अभाव क्या जीवन का कम उत्पीड़न है? आधुनिक कवि की भूमिका में हम फिर पढते हैं—"हृदय में तो निराशा के लिए कोई स्पर्श ही नहीं पाती, केवल एक गम्भीर करुणा की छाया देखती हूँ।" निराशा इसलिए नहीं है कि महादेवी ने अपने अभाव से समझौता कर लिया। आशा तभी तक रहती है जब तक परिस्थिति में सुधार की सम्भावना होती है। एक बार इस सम्भावना के नष्ट हो जाने पर मन निराशा की ओर नहीं बढ़ता, पर वह आशान्वित हो कर हर्ष से परिपूरित भी नहीं हो पाता। वह अपने अभाव को बिसूरता रहता है, उस पर चिन्तन-मनन करता रहता है। कभी-कभी यह भी कल्पना कर वह अपने को सुखी मानने का यत्न करता है कि मैं निराश नहीं हूँ, प्रसन्न हूँ। पर यह कल्पित उल्लास का झोंका क्षणिक ही रहता है। उसके हटते ही मन अपने दुःख को नगण्य नहीं मानता। महादेवी की 'यामा' की भूमिका में यही मनोवृत्ति बोल रही है—"दुख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन का अधिक मधुर उर्वर बनाये बिना नहीं रहता।" मनुष्य सुख को अकेला भोगना चहता है, परन्तु दुःख को सब को बाँट कर। विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार जल का एक बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।

महादेवी को दुःख का वह रूप प्रिय है, जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार के एक अविच्छिन्न बंधन में बांध देता है और उसका वह रूप भी काल और सीमा के बंध में पड़े हुए असीम चेतना का क्रंदन है। दूसरे शब्दों में व्यष्टि और समष्टि दोनों का दुःख उन्हें प्रिय है। हम महादेवी को कलाकार-कवियत्री मानते है। यदि उनकी कविता को किसी वाद से ही बांधना हो तो उसे दुःखवाद से अभिहित कर सकते है। उन्होंने स्वयं अपने जीवन को दुःख या पीड़ा से सिक्त कहा है—

"चिंता क्या है, हे निर्मम,
बुझ जाये दीपक मेरा
हो जायेगा तेरा ही
पीड़ा का राज्य अँधेरा ॥"

गद्य की भाषा में भी वे कहती हैं—"बचपन में ही भगवान बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनके संसार को दुःखात्मक समझने वाले दर्शन से मेरा असमय ही परिचय हो गया। अवश्य ही इस दुःखवाद को मेरे लिए नया जन्म लेना पड़ा। फिर भी उसमें नये जन्म के संस्कार विद्यमान हैं।" इसका यह आशय हुआ कि महादेवी ने बुद्ध की संसार को देखने की दृष्टि ग्रहण की है। बुद्ध भगवान ने दुःख को शावश्त सत्य माना है। वे कहते हैं संसार में दुःख की सत्ता ठोस और स्थूल है। परन्तु कवियत्री बौद्धों के संघात या नैराश्यवाद में विश्वास नहीं करती अर्थात् वह आत्मा की वास्तविक सत्ता से इनकार नहीं करती, परन्तु बौद्धों के सन्तानवाद में बहुत अंश तक विश्वास करती हैं। सन्तानवाद में आत्मा और जगत् को अनित्य माना जाता है। महादेवी आत्मा को नित्य मानती हैं, उसके अमरत्व में आस्था रखती हैं, परन्तु क्षण-क्षण परिर्वतित दिखाई देने वाले जगत् की क्षणभंगुरता को बौद्धमत के समान ही स्वीकार करती हैं। यह सत्य है कि आत्मा का अमरत्व तब तक कायम रहता है जब तक वह परमात्मा में लीन हो कर मुक्ति लाभ नहीं कर लेती। वे कहती हैं—

"जब असीम से हो जायेगा
मेरा लघु सीमा का मेल
देखोगे तब देव! अमरता
खेलेगी मिटने का खेल।"

'निर्वाण' हो जाने के बाद आत्मा-परमात्मा नाम दो तत्व कहाँ रह जाते हैं ? संसार में पदार्थों का नहीं, उनके रूप का नाम होता है—

"स्निग्ध अपना जीवन कर क्षार
दीप करता आलोक प्रसार
जलाकर मृत पिंडों में प्राण
बीज करता असंख्य निर्माण,
सृष्टि का है यह अमिट विधान
एक मिटने में सौ वरदान।"

मृत्यु को उन्होंने जीवन का चरम विकास कहा है। उनका विश्वास है कि जीवन के शाश्वत हो जाने पर वह ह्रासोन्मुख हो जाता है। अतएव विकास के लिए मृत्यु को उन्होंने आवश्यक माना है। मृत्यु से जीवन का सर्वदा लोप नहीं हो जाता। उसकी एक स्थूल शृंखला मात्र विच्छिन्न हो जाती है।

अपने दुःख की प्रतिच्छाया समस्त सृष्टि में देखने की वृत्ति हिन्दी-काव्य में नयी नहीं है। ऊपर के विवेचन से सिद्ध है कि महादेवी का काव्य व्यक्तिगत मानसिक संघर्ष, अभाव और बुद्ध के दुःखवाद से प्रभावित है। दुःख को उन्होंने 'मधुर भाव' के रूप में स्वीकार किया है। उसमें उनकी प्रेयसी की भूमिका है, जो परोक्ष प्रिय के लिए अहर्निश आतुर होती रहती है। प्रिय और प्रियतम की इस कल्पित आँख-मिचौनी से उनका काव्य क्रीड़ामय हो उठा है। वे कहती हैं—

"प्रिय चिरंतन है सजन,
क्षण-क्षण नवीन सुहागिनी मैं॥"

जब उनकी पलकें लज्जानत होना सीख ही रही थीं तभी उनमें किसी अज्ञात की प्रेम-पीड़ा हँस उठी थी—

"इन ललचाई पलकों पर
पहरा जब था व्रीड़ा का।
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का॥"

तब से आज तक उनकी पीड़ा का अन्त नहीं हुआ, उनकी विरह-निशा का अन्त नहीं हुआ। वे कहती हैं—

"अलि ! विरह के पथ में
मैं तो न इति अथ मानती री ।"

इसीलिए उनका जीवन विरह का जलजात बन गया है । जिसकी 'चितवन' ने उन्हें 'पीड़ा का राज्य' दे जीवन को झकझोर डाला है, उससे उनकी मनुहार है—

"जो तुम्हारा हो सके
लीला कमल यह आज
खिल उठे निरुपम तुम्हारी
देख स्मिति का प्रात ॥"

कभी-कभी उनका भ्रान्त मन यह भी कल्पना कर लेता है कि वे जिसे खोज रही हैं, वह उनके हृदय में ही है—

"गूँजता उर में न जाने
दूर के संगीत-सा क्या
आज खो निज को मुझे
खोया मिला विपरीत-सा क्या ?
क्या नहा आई विरह-निशि
मिलन मधु दिन के उदय में ?
कौन तुम मेरे हृदय में ?

पर उसी क्षण जैसे उन्हें अपनी वास्तविकता का भान होता है । वे पुनः अपने को अभावमय अनुभव करने लगती हैं तथा अपनी स्थिति से सन्तुष्ट होना चाहती हैं—

एक करुण अभाव में
चिरतृप्ति का संसार निर्मित ।"

उन्हें अपनी कसक में माधुर्य अनुभव होने लगता है । एक ही गीत में अनुभूति की विपरीत झलकों से जान पड़ता है कि वे लिखना कुछ चाहती हैं, पर बेसुधमना होने के कारण कुछ और ही लिख जाती हैं । उनके गीतों में इस

ाकार की भाव-विषमता का यह अर्थ हो सकता है कि या तो वे एक कल्पना
के पश्चात् दूसरी कल्पना की चिंतना में व्यस्त रहती हैं या उनका मन ही
ूला-भूला सा भटकता रहता है।

अपने कल्पित प्रिय की कभी वे प्रतीक्षा करती हैं (जो तुम आ जाते एक
ार) और कभी उसे अपनी दशा दिखला कर करुणा से आर्द्र करना चाहती
—'यह सजल मुख देख लेते, यह करुण मुख देख लेते'। उसे सपनों में बाँधने
ी आकांक्षा भी रह-रह कर आकुल हो उठती है और एकान्त मिलन की
भिसार-साध भी सिहर उठती है। फिर भी उनका अभिमान आँसुओं की
ाह से बिलकुल गल नहीं गया। अपने प्रिय में अपना अस्तित्व मिटाना उन्हें
ह्य नहीं है—

> "सखि! मधुर निजत्व दे
> कैसे मिलूं अभिमानिनी मैं।"

'रत्नाकर' की गोपियों की भी यही वृत्ति है। उनका विश्वास है कि
गर ससीम असीम में मिल जायगा तो असीम का उससे तो कुछ बनेगा-
गड़ेगा नहीं प्रत्युत 'ससीम' ही बर्बाद हो जायगा—

> "जैहैं बन विगरि न बारिधिता बारिधि की
> बूंदता बिलैहै बूंद विवस बिचारी की।"

अलौकिक प्रिय के साथ प्रेम की यथासम्भव समस्त क्रीड़ाओं का प्रदर्शन
नकी रचनाओं में बिखरा हुआ है। उनका कथन है कि उन्होंने सृष्टि के
तर ही अपने प्रिय को पहिचान लिया है। तभी वे आश्वस्त हो कर
हती हैं—

> "जो न प्रिय पहिचानती।
> कल्पयुग व्यापी विरह को—
> एक सिहरन में सम्भाले,
> शून्यता भर तरल मोती—
> से मधुर सुध दीप वाले,
> क्यों किसी के आगमन के
> शकुन स्पंदन में मनाती?"

वे उनके उन्मन सन्देश भी जानती हैं, इसीलिए नयनों में पावस और प्राणों में चातक बसाती हैं। परन्तु कवियत्री अपनी विरह-साधना का अन्त नहीं चाहती। प्रतीक्षा-रस में उसकी अटूट ममता है—

"इस अचल क्षितिज रेखा से
तुम रहो निकट जीवन के
पर तुम्हें पकड़ पाने के
सारे प्रयत्न हों फीके।
तुम हो प्रभाव की चितवन
मैं विधुर निशा बन जाऊँ
काटूं वियोग-पल रीते
संयोग समय छिप जाऊँ।"

ब्राउनिंग के समान वे भी अतृप्ति को जीवन मानती हैं। इसलिए उनके काव्य में विरह और मिलन की समानान्तर निकटता लक्षित होती है।

महादेवी के काव्य में प्रकृति से परिचय पाना शहराती ड्राइंग-रूम के फर्श पर वनप्रांगण की हरी दूब को खोजने के समान अप्राकृत प्रयत्न है। वे मानव-मन की कवियत्री हैं। बाह्य सृष्टि को काव्य में सिंगारना उनका काम नहीं है। वे तो प्रकृति से ही अपना शृंगार कराती हैं—

"रंजित कर दे ये शिथिल चरण
दे नव अशोक करुण का राग
मेरे यौवन को आज मधुर
ला रजनीगन्धा का पराग
यूथी की मीलित कलियों से
अलि! दे मेरी कबरी सँवार।"

उन्होंने फूलों के नाम सुन रखे हैं, पढ़े भी हैं पर कौन फूल कब कहाँ खिलता है, उसकी चिंता उन्हें नहीं रही। हरसिंगार, शेफाली, पारिजात का फूल भिन्न-भिन्न नहीं, एक ही है। इसे जानने का भी उन्हें अवकाश कहाँ? प्रकृति उनके काव्य को अलंकृत करने का कार्य अधिक करती है और उनकी भावनाओं की पृष्ठभूमि बनती है, स्वयं काव्य नहीं। उनके काव्य में तारक, ओस,

बिजली, बादल आदि की बड़ी महिमा है । वे बार-बार गीतों में भिन्न-भिन्न प्रतीकों और नामों में झलक उठते हैं । वास्तव में प्रकृति में उन्होंने अपनी ही आशा-निराशा, आकांक्षा और उत्कण्ठा के चित्र आरोपित किये हैं । वे कभी स्वयं विराट रूप धारण कर विराट की मिलन-उत्कण्ठा से प्रकृति के उपकरणों को अपने शृंगार का साधन बनाती हैं—

"शशि के दर्पण में देख देख
मैंने सुलझाये तिमिर केश ।"

प्रकृति में मन के न रमने के कारण वह महादेवी के काव्य में पूरी तरह से बिम्बित नहीं हो पायी । फिर भी आश्चर्य है कि वे सृष्टि के कण-कण को पहिचानने का दावा करती हैं । इसीलिए हमारा सन्देह दृढ़ होता है कि महादेवी का काव्य कल्पना की सुन्दर सृष्टि है । अनुभूति के साथ उनकी अभिव्यक्ति का बहुत कम तारतम्य है ।

गीतकर्त्री की दृष्टि से महादेवी को प्रसाद और निराला के बीच की शृंखला कहा जाता है । प्रसाद के गीतों में भाव-प्रवणता, निराला के गीतों में चिंतन और महादेवी के गीतों में दोनों का समावेश है । निराला के गीत स्वर-ताल की शास्त्रीय मर्यादा के साथ प्रायः चलते हैं । प्रसाद और महादेवी के गीतों में संगीत-शास्त्र का कोई बँधन नहीं है । निराला में शब्दों के ह्रस्व-दीर्घ के विकार कम पाये जाते हैं, प्रसाद में अधिक पर महादेवी में प्रसाद से कम परन्तु निराला से अधिक मिलते हैं । निराला में भावों की अन्विति के साथ गीत पूर्ण होता है । प्रसाद में भी प्रायः भाव विच्छिन्न नहीं हो पाता, पर महादेवी के गीतों में भावों की विच्छिन्नता पायी जाती है । उनका एक गीत ही भाव की पूर्ण परिणति नहीं होता। उसमें कई भाव झलक उठते हैं ।

छायावाद- युग की काव्यकला महादेवी में पूर्ण वैभव के साथ दिखायी देती है, शब्द की अभिधाशक्ति का वहाँ जरा भी सम्मान नहीं है । लक्षणा, प्रतीत और व्यंजना से वह ओतप्रोत है । कवयित्री प्रतीकों के प्रयोग में बहुत स्वच्छन्द है । एक प्रतीक एक ही अर्थ में सब जगह प्रयुक्त नहीं होता । कभी-कभी भिन्न स्थलों पर सन्दर्भ के अनुसार भिन्न अर्थ देता है । इसी से काव्य प्राय दुर्बोध हो जाता है । प्रसाद और पन्त के सामान वचन, लिंग आदि के प्रयोगों में वह व्याकरण के नियमों से बँधना नहीं चाहतीं ।

अभी तक रचनाकाल की दृष्टि से महादेवी के निम्न कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—(१) नीहार, (२) रश्मि, (३) नीरजा, (४) सांध्यगीत (५) नीहार, रश्मि, नीरजा और सांध्यगीत का सम्मिलित रूप 'यामा', (६) दीपशिखा। इन संग्रहों में प्रारम्भिक रचनाओं में सम्भवतः वय के अनुसार भाव-त्रिगोपन की प्रवृति रही है, पर क्रमशः 'दीपशिखा' तक पहुँचते-पहुँचते इनका हृदय खुलता गया है और अभिव्यक्ति स्पष्ट हो गयी है। 'नीहार' की उदासी, खीझ और झुंझलाहट 'दीपशिखा' तक पहुँचते-पहुँचते दूर हो गयी है और उसमें परिस्थिति का सर्वोच्च आस्वाद, अभाव का आत्म-सन्तोष प्रकाशित हो उठा है। 'दीपशिखा' के आगे किस मनोराज्य की भूमि कवयित्री देखना चाहती है, यह भविष्य के गर्भ में है। इधर वह 'गद्यं कवीनाम् निकषं वदन्ति' को सार्थक कर रही हैं।

● ●

व्यवहार भाषा—हिन्दी

हिन्दी राष्ट्र की सर्वाधिक व्यवहृत भाषा है। यद्यपि इसका क्षेत्र मुख्यतः मध्यदेश है (जिसके अन्तर्गत प्राचीनकाल के कुरु-पांचाल, शूरसेन-मत्स्य, कोसल-काशी, वृजि-मल्ल, मगध-अंग, चेदि-वत्स, अवन्ती और मरु महाजनपद सम्मिलित थे और जिसकी वर्तमान सीमा उत्तर तथा उत्तरपूर्व में हरयाणा प्रान्त, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश और बिहार है और दक्षिण, दक्षिणपूर्व तथा पश्चिम में मध्यप्रदेश तथा राजस्थान हैं), तो भी इसे द्वितीय भाषा के रूप में बोलने वालों की थोड़ी-बहुत संख्या समस्त देश में पायी जाती है। सुदूर दक्षिण के प्रान्त केरल के तो प्रत्येक ग्राम में स्त्री-पुरुष हिन्दी बोल और समझ लेते हैं। उत्तर भारत के आर्य-भाषा क्षेत्रों में—बंगाल, उड़ीसा, आसाम, गुजरात और पंजाब में तो इसे सहज ही समझ लिया जाता है। दक्षिण में प्रचलित आर्य-भाषा मराठी और हिन्दी की लिपि समान होने से तो दोनों भाषाएँ बहुत निकट आ जाती हैं, पश्चिम में गुजरात में हिन्दी समझने और पढ़ने में कठिनाई अनुभव नहीं होती, क्योंकि गुजराती लिपि भी नागरी से बहुत मिलती-जुलती है। उत्तर में पंजाब की पंजाबी और खड़ीबोली हिन्दी में तो बहुत ही कम अन्तर है। दक्षिण की द्राविड़ भाषाओं में (तमिल को छोड़ कर) संस्कृत शब्दों की बहुलता होने से हिन्दी थोड़े प्रयत्न से ग्रहण हो जाती है।

इस प्रकार हिन्दी राष्ट्र की सर्वाधिक व्यवहृत भाषा है। इसने अपने प्रादुर्भाव काल से अब तक विभिन्न नाम धारण किये हैं। संस्कृतोत्तर भाषाओं को 'भाषा' कहा जाता रहा है, जिसका उच्चारण 'भाखा' किया जाता रहा है। पर हिन्दी का वही रूप 'भाखा' कहा गया जो उसके खड़ी बोली रूप से भिन्न रहा है। खड़ी बोली को मुगलई, तुर्की, हिन्दुई, हिन्दोस्तानी, हिन्दी आदि नामों से अभिहित किया जाता रहा है। ईरानियों ने सिन्धु नदी के देश को हिन्द और उसमें रहने वालों को हिन्दी, हिन्दू तथा उनकी भाषा को हिन्दुई कहना प्रारम्भ कर दिया था। सिन्धु का हिन्दु ईरानी में 'स' के 'ह' उच्चारण के कारण सम्भव हुआ है।

इस दृष्टि से 'हिन्दी' 'हिन्द' की सभी भाषाओं के लिए प्रयुक्त हो सकता है। फिर भारत के आधुनिक मध्यकाल के इतिहास में प्राचीन मध्यप्रदेश को ही 'हिन्दुस्तान' कहा जाने लगा। आज भी महाराष्ट्र और मध्यदेश में जन-साधारण उत्तर प्रदेशीय को 'हिन्दुस्तानी' कहता है। जब भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ हुआ तब मध्यदेश तथा उसकी सीमावर्तिनी भाषाओं को हिन्दी के अन्तर्गत रखा गया जो मुख्यतः पूर्वी तथा पश्चिमी हिन्दी में विभाजित की गयी। पूर्वीय हिन्दी के अन्तर्गत अवधी (जिसकी उपभाषाएँ बघेली और छत्तीसगढ़ी हैं) और बिहारी भाषाएँ (जिनके अन्तर्गत भोजपुरी, मैथिली, मगही आती हैं) परिगणित की गयी हैं। पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत ब्रज या ब्रजी, कन्नौजी, बुन्देली, खड़ी बोली, बाँगड़ू, हरयाणवी तथा राजस्थानी (जिसमें मालवी, हाड़ौती, निमाड़ी, मारवाड़ी, जयपुरी आदि सम्मिलित हैं) का नाम लिया जाता है। हिमाचल प्रदेश की बोलियाँ भी हिन्दी के ही अन्तर्गत मानी गयी हैं। प्रादेशिक भावनाओं के उभरने के परिणामस्वरूप बिहारी भाषाओं तथा राजस्थानी को हिन्दी के अन्तर्गत रखने में कतिपय विद्वान संकोच करने लगे हैं। साहित्य अकादमी (नयी दिल्ली) में मैथिली-प्रेमियों ने अपनी भाषा को हिन्दी से पृथक करवाने में सफलता प्राप्त कर ली है। राजस्थानी और भोजपुरी प्रेमी भी अपनी भाषाओं के पृथक् अस्तित्व की माँग कर रहे हैं। यों 'पंजाबी' खड़ी बोली से बहुत पृथक् नहीं हैं। पर पंजाबी तो बहुत पहले ही अपनी भाषा की पृथकता स्थापित कर चुके हैं। यद्यपि सोलहवीं शताब्दी से पंजाबी साहित्य पंजाबी में बहुत कम, हिन्दी की ब्रजी (व्रजभाषा) में ही प्रायः लिखा जाता रहा है। 'पंजाबी' केवल बोलचाल की ही भाषा समझी जाती रही है जिसे जट्टी भी कहा जाता रहा है।

बीम्स, गुणे, तारापुरवाला, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि ने हिन्दी के व्यापक रूप का ही समर्थन किया है। पर डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी और उनके शिष्य राजस्थानी और बिहारी भाषाओं को हिन्दी से पृथक् सिद्ध कर रहे हैं। यदि हम विश्लेषण की प्रवृत्ति से भाषा का अध्ययन प्रारम्भ करने लगें तो एक ही भाषा के अनेक रूपों को हमें पृथक्-पृथक् भाषा मानना पड़ेगा। (इसी प्रवृत्ति के वशीभूत हो कर हरयाणवी (बाँगड़ू) प्रेमी हरयाणवी को भी हिन्दी से पृथक् कहने लगे हैं। सामान्य धारणा के अनुसार भाषा दस-दस कोस पर बदलने लगती है। परन्तु यदि सुदूर बसने वाले भी परस्पर एक-दूसरे की भाषा समझ लें तो समझना चाहिए कि विभिन्नता रखने पर भी दोनों की भाषा का परिवार एक है। हिन्दी के विभिन्न रूपों का विकास क्रम है—वैदिक संस्कृत-

लौकिक संस्कृत-पालि-प्राकृत-अपभ्रंश और उसके लोकभाषा रूप। यहाँ यह भी स्मरण रखना उचित होगा कि लेखनारम्भ के बाद से प्रत्येक युग में भाषा के दो रूप —लिखित और चलित—प्रचलित रहे हैं। भाषाओं का विकास चलित अर्थात् लोक भाषा-रूप से होता है। पर यह कहना कि लिखित रूप चलित रूप से बहुत भिन्न होता है, उचित नहीं है। भाषा के विकास-क्रम में देखा गया है कि जब लिखित रूप चलित रूप से बहुत भिन्न होने लगता है तब लिखित रूप में ही धीरे-धीरे चलित रूप प्रविष्ट होने लगता है और भाषा को नया रूप प्रदान करने लगता है। मानव-स्वभाव सरल मार्ग की ओर अग्रसर होता है, पर नवीनता का अन्वेषण भी उसकी प्रकृति है। अतः भाषा का विकास-क्रम दोनों प्रवृत्तियों के साथ अग्रसर होता चलता है। हिन्दी, लिखित ही नहीं, चलित भाषा भी तेजी से होती जा रही है। अहिन्दी क्षेत्रों में वह लिखने के बजाय बोली अधिक जाती है। अतः स्वाभाविक ही है कि उसकी 'बोली' में क्षेत्रीय भाषा के शब्द, मुहावरे आदि प्रविष्ट होते जा रहे हैं। साधु हिन्दी भी हिन्दी की उपबोलियों से प्रभावित होती आ रही है। विभिन्न हिन्दी-क्षेत्रों में भी वर्णों की उच्चारण-भिन्नता सुनायी पड़ती है, हरियाणा, मेरठ, सहारनपुर जिलों में क, ख, ग, ब आदि वर्णमाला के अक्षर 'ए' ध्वनि के साथ बोले जाते हैं यथा, के, खे, गे, बे आदि। पूर्वीय क्षेत्रों में ये ही अक्षर अर्ध 'ओ' ध्वनि के साथ उच्चरित होते हैं, क्योंकि वहाँ की भाषाएँ मागधी-भाषा-प्रवृत्तियों से प्रभावित हैं। ब्रज-बुन्देलखण्डी क्षेत्रों में 'व' के स्थान पर 'ब' सुन पड़ता है। बुन्देलखण्ड-क्षेत्र में शब्दारम्भ में अनुनासिकता अधिक है। इसी प्रकार जहाँ पश्चिमी हिन्दी के वाक्यान्त 'सुर' रहित होते हैं वहाँ पूर्वीय हिन्दी के वाक्यान्त, 'सुर' सहित होते हैं। पंजाब तथा पूर्वीय क्षेत्र के हिन्दी-भाषी 'ने' विभक्ति के प्रयोग में प्रायः प्रमाद कर जाते हैं। 'मैंने रोटी खाई' के स्थान पर पंजाबी में 'मैं रोटी खाया' तथा पुरबिया सहज ही 'मैंने रोटी खाया' कह जायगा। पंजाब में, 'मुझे जाना है' के स्थान पर 'मैंने जाना है' सुनायी पड़ेगा। जो यह कहा जाता है कि हिन्दी में जैसा लिखा जाता है वैसा बोला भी जाता है, ठीक नहीं है...ठीक इतना है कि बोला जा सकता है। चलित हिन्दी के उच्चारण में थोड़ी भिन्नता है। हिन्दी-भाषी शब्दान्त के स्वरों का पूर्णोच्चार नहीं करता। जैसा कल में कल्+अ है, पर उच्चारण में अ का उच्चार नहीं होता। इसी प्रकार कई स्थानों में शब्द में द्वितीय स्थान का ह् और अन्त का ह भी प्रायः उच्चरित नहीं होता यथा कहना→केना, वाह→वा आदि।

अहिन्दी भाषाभाषी अपनी मातृभाषा को ध्वनियों में हिन्दी ध्वनियों को

इस दृष्टि से 'हिन्दी' 'हिन्द' की सभी भाषाओं के लिए प्रयुक्त हो सकता है। फिर भारत के आधुनिक मध्यकाल के इतिहास में प्राचीन मध्यप्रदेश को ही 'हिन्दुस्तान' कहा जाने लगा। आज भी महाराष्ट्र और मध्यदेश में जन-साधारण उत्तर प्रदेशीय को 'हिन्दुस्तानी' कहता है। जब भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ हुआ तब मध्यदेश तथा उसकी सीमावर्तिनी भाषाओं को हिन्दी के अन्तर्गत रखा गया जो मुख्यतः पूर्वी तथा पश्चिमी हिन्दी में विभाजित की गयी। पूर्वीय हिन्दी के अन्तर्गत अवधी (जिसकी उपभाषाएँ बघेली और छत्तीसगढ़ी हैं) और बिहारी भाषाएँ (जिनके अन्तर्गत भोजपुरी, मैथिली, मगही आती हैं) परिगणित की गयी हैं। पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत ब्रज या ब्रजी, कन्नौजी, बुन्देली, खड़ी बोली, बाँगड़ू, हरयाणवी तथा राजस्थानी (जिसमें मालवी, हाड़ौती, निमाड़ी, मारवाड़ी, जयपुरी आदि सम्मिलित हैं) का नाम लिया जाता है। हिमाचल प्रदेश की बोलियाँ भी हिन्दी के ही अन्तर्गत मानी गयी हैं। प्रादेशिक भावनाओं के उभरने के परिणामस्वरूप बिहारी भाषाओं तथा राजस्थानी को हिन्दी के अन्तर्गत रखने में कतिपय विद्वान संकोच करने लगे हैं। साहित्य अकादमी (नयी दिल्ली) में मैथिली-प्रेमियों ने अपनी भाषा को हिन्दी से पृथक करवाने में सफलता प्राप्त कर ली है। राजस्थानी और भोजपुरी प्रेमी भी अपनी भाषाओं के पृथक् अस्तित्व की माँग कर रहे हैं। यों 'पंजाबी' खड़ी बोली से बहुत पृथक् नहीं हैं। पर पंजाबी तो बहुत पहले ही अपनी भाषा की पृथकता स्थापित कर चुके हैं। यद्यपि सोलहवीं शताब्दी से पंजाबी साहित्य पंजाबी में बहुत कम, हिन्दी की ब्रजी (ब्रजभाषा) में ही प्रायः लिखा जाता रहा है। 'पंजाबी' केवल बोलचाल की ही भाषा समझी जाती रही है जिसे जट्टी भी कहा जाता रहा है।

बीम्स, गुणे, तारापुरवाला, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि ने हिन्दी के व्यापक रूप का ही समर्थन किया है। पर डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी और उनके शिष्य राजस्थानी और बिहारी भाषाओं को हिन्दी से पृथक् सिद्ध कर रहे हैं। यदि हम विश्लेषण की प्रवृत्ति से भाषा का अध्ययन प्रारम्भ करने लगें तो एक ही भाषा के अनेक रूपों को हमें पृथक्-पृथक् भाषा मानना पड़ेगा। (इसी प्रवृत्ति के वशीभूत हो कर हरयाणवी (बाँगड़ू) प्रेमी हरयाणवी को भी हिन्दी से पृथक् कहने लगे हैं। सामान्य धारणा के अनुसार भाषा दस-दस कोस पर बदलने लगती है। परन्तु यदि सुदूर बसने वाले भी परस्पर एक-दूसरे की भाषा समझ लें तो समझना चाहिए कि विभिन्नता रखने पर भी दोनों की भाषा का परिवार एक है। हिन्दी के विभिन्न रूपों का विकास क्रम है—वैदिक संस्कृत-

लौकिक संस्कृत-पालि-प्राकृत-अपभ्रंश और उसके लोकभाषा रूप। यहाँ यह भी स्मरण रखना उचित होगा कि लेखनारम्भ के बाद से प्रत्येक युग में भाषा के दो रूप —लिखित और चलित—प्रचलित रहे हैं। भाषाओं का विकास चलित अर्थात् लोक भाषा-रूप से होता है। पर यह कहना कि लिखित रूप चलित रूप से बहुत भिन्न होता है, उचित नहीं है। भाषा के विकास-क्रम में देखा गया है कि जब लिखित रूप चलित रूप से बहुत भिन्न होने लगता है तब लिखित रूप में ही धीरे-धीरे चलित रूप प्रविष्ट होने लगता है और भाषा को नया रूप प्रदान करने लगता है। मानव-स्वभाव सरल मार्ग की ओर अग्रसर होता है, पर नवीनता का अन्वेषण भी उसकी प्रकृति है। अत: भाषा का विकास-क्रम दोनों प्रवृत्तियों के साथ अग्रसर होता चलता है। हिन्दी, लिखित ही नहीं, चलित भाषा भी तेजी से होती जा रही है। अहिन्दी क्षेत्रों में वह लिखने के बजाय बोली अधिक जाती है। अतः स्वाभाविक ही है कि उसकी 'बोली' में क्षेत्रीय भाषा के शब्द, मुहावरे आदि प्रविष्ट होते जा रहे हैं। साधु हिन्दी भी हिन्दी की उपबोलियों से प्रभावित होती जा रही है। विभिन्न हिन्दी-क्षेत्रों में भी वर्णों की उच्चारण-भिन्नता सुनायी पड़ती है, हरियाणा, मेरठ, सहारनपुर जिलों में क, ख, ग, ब आदि वर्णमाला के अक्षर 'ए' ध्वनि के साथ बोले जाते हैं यथा, के, खे, गे, बे आदि। पूर्वीय क्षेत्रों में ये ही अक्षर अर्ध 'ओ' ध्वनि के साथ उच्चरित होते हैं, क्योंकि वहाँ की भाषाएँ मागधी-भाषा-प्रवृत्तियों से प्रभावित हैं। ब्रज-बुन्देलखण्डी क्षेत्रों में 'व' के स्थान पर 'ब' सुन पड़ता है। बुन्देलखण्ड-क्षेत्र में शब्दारम्भ में अनुनासिकता अधिक है। इसी प्रकार जहाँ पश्चिमी हिन्दी के वाक्यान्त 'सुर' रहित होते हैं वहाँ पूर्वीय हिन्दी के वाक्यान्त, 'सुर' सहित होते हैं। पंजाब तथा पूर्वीय क्षेत्र के हिन्दी-भाषी 'ने' विभक्ति के प्रयोग में प्रायः प्रमाद कर जाते हैं। 'मैंने रोटी खाई' के स्थान पर पंजाबी में 'मैं रोटी खाया' तथा पुरविया सहज ही 'मैंने रोटी खाया' कह जायगा। पंजाब में, 'मुझे जाना है' के स्थान पर 'मैंने जाना है' सुनायी पड़ेगा। जो यह कहा जाता है कि हिन्दी में जैसा लिखा जाता है वैसा बोला भी जाता है, ठीक नहीं है...ठीक इतना है कि बोला जा सकता है। चलित हिन्दी के उच्चारण में थोड़ी भिन्नता है। हिन्दी-भाषी शब्दान्त के स्वरों का पूर्णोच्चार नहीं करता। जैसा कल में कल्+अ है, पर उच्चारण में अ का उच्चार नहीं होता। इसी प्रकार कई स्थानों में शब्द में द्वितीय स्थान का ह् और अन्त का ह भी प्रायः उच्चरित नहीं होता यथा कहना→कैना, वाह→वा आदि।

अहिन्दी भाषाभाषी अपनी मातृभाषा की ध्वनियों में हिन्दी ध्वनियों को

ढालने का यत्न करते हैं। इससे उच्चारण-भिन्नता आ जाती है। उदाहरणार्थ तमिष् में हिन्दी पंचवर्गीय ध्वनियों में प्रथम और अन्तिम ध्वनि होने के कारण हिन्दी वर्णों का उच्चारण भी उन्हीं ध्वनियों से प्रभावित रहता है। जैसे गांधी को तमिष्वासी कांदी कहा जायगा। यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि हिन्दी के साधु रूप में भी विकास या परिवर्तन होता जा रहा है, क्योंकि विभिन्न भाषा-भाषी उसमें लिखने लगे हैं। अतः उनके लेखन में उनकी मातृभाषा के कुछ शब्द तथा मुहावरे अनायास प्रविष्ट हो रहे हैं। धीरे-धीरे अति प्रयोग से वे साधु हिन्दी के अंग बन जायेंगे। कतिपय शब्दों की वर्तनी के एक से अधिक रूप प्रचलित हैं। वे प्रचलित रहेंगे, उनके रूप स्थिर करने के साहित्य सभाओं तथा वैयाकरणों के प्रयत्न असफल रहे हैं। व्यक्ति स्वातन्त्र्य के इस युग में लेखक किसी व्यक्ति या संस्था का अनुशासन मानने को तत्पर नहीं है। अतः उन्हें हटाने के प्रयत्न सफल नहीं होंगे। विकल्प रूप में उन्हें स्वीकार करना ही होगा। अमरीकी अंग्रेजी में कई शब्दों की वर्तनी विलायती अंग्रेजी की वर्तनी से भिन्न है। अहिन्दी-भाषा हिन्दी प्रेमियों का कथन है कि हम उत्तर-प्रदेश की हिन्दी को नहीं, एक ऐसी हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानेंगे जिसके निर्माण में सभी प्रान्तीय भाषाओं का योगदान होगा। जीवन्त भाषा का यह लक्षण है कि वह युगानुरूप अपना विकास करती जाती है।

अहिन्दी भाषियों को हिन्दी-शब्दों के लिंगों को पहचानने में कष्ट होता है और वे क्रिया रूप को कर्त्ता के लिंग के अनुसार प्रयुक्त करने में असफल हो जाते हैं। वे चाहते हैं कि 'आदमी जाता है' के समान 'औरत जाता है' कहा जाय। और 'ने' विभक्ति का बन्धन शिथिल कर दिया जाय। पर क्या भाषा का व्याकरणिक ढाँचा सभा अथवा गोष्ठियों के प्रस्ताव परिवर्तित कर सकते हैं? वह तो काल-प्रवाह के साथ जन-समूह ही परिवर्तित कर सकता है। जब यह कठिनता जनता को असह्य हो जायेगी तब वह किसी काल में स्वयं उसे दूर कर लेगी। भाषा-विकास का इतिहास यही सिद्ध करता है। अतः आज हिन्दी की जो प्रवृत्ति है, उसके अनुरूप ही हमें उसे ग्रहण करने की आवश्यकता है। जब चालित भाषा व्याकरणिक बन्धनों से मुक्त हो जायगी तब लिखित भाषा भी उसका अनुकरण कर लेगी। पर भाषा का साधु या लिखित रूप सहसा परिवर्तित नहीं होता, इसे हमें विस्मृत नहीं करना चाहिये।

• •

हिन्दुस्तानी, खड़ी बोली, उर्दू-दक्खिनी हिन्दी

पहले कहा जा चुका है कि डॉ० ग्रियर्सन ने 'खड़ी बोली' का नहीं 'हिन्दुस्तानी' का प्रयोग किया है। "पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत पाँच बोलियाँ आती हैं—हिन्दोस्तानी, बाँगरू, ब्रजभाषा कन्नौजी तथा बुन्देली। स्थानीय भाषा के रूप में हिन्दुस्तानी पश्चिमी रुहेलखण्ड, गंगा के ऊपरी दोआब तथा पंजाब के अम्बाला जिले में बोली जाती है। मुसलमान विजेताओं द्वारा पूरे भारत में इसका प्रचार हुआ और इसमें सहित्यिक विकास भी यथेष्ट हुआ। इसके तीन प्रमुख विभेद मिलते हैं—साहित्यिक हिन्दुस्तानी का मुसलमान, हिन्दू तथा हिन्दू दोनों ही समान रूप से साहित्य तथा बोलचाल में प्रयोग करते हैं। उर्दू, जिसे मुस्लिम शिक्षा-पद्धति को अपनाने वाले हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही प्रधानतया प्रयोग में लाते हैं और इसका तीसरा आधुनिक विकास हिन्दी है, जिसका प्रयोग हिन्दू-पद्धति के अनुसार शिक्षित हिन्दू करते हैं?"[१]

ग्रियर्सन ने बहुप्रचलित हिन्दी को हिन्दुस्तानी कहा है। ग्रियर्सन के पूर्व भी पाश्चात्यों ने इसे हिन्दुस्तानी कहा है। टेरी ने लिखा था, "हिन्दुस्तान देश की ग्राम्य (बोलचाल की) भाषा का फारसी-अरबी से अधिक साम्य है, किन्तु उच्चारण में वह अधिक सरल तथा प्रिय प्रतीत होती है। यह एक ऐसी भाषा है जिसमें प्रवाह है तथा शब्दों में इसमें अनेक बातों को प्रकट करने की शक्ति है—हमारी ही तरह बाईं ओर से दाहिनी ओर लिखते तथा पढ़ते हैं। कतिपय अंग्रेज व्यापारी निश्चित रूप से प्रवाह के साथ हिन्दुस्तानी बोल सकते थे।" १७वीं शताब्दी में फ्रेयर ने अपनी 'न्यू एकाउंट्स ऑव ईस्ट इण्डिया एण्ड पर्शिया' में लिखा है—"यहाँ (भारत) की अदालती भाषा फारसी है, किन्तु सामान्य भाषा 'हिन्दोस्तानी' है।"[२]

फ्रेयर को ज्ञात नहीं था कि यह भाषा लिखी भी जाती है, अतः वह कहता है—लिखित भाषा 'बनिया' कहलाती है। (सम्भवतः वह कैथी की ओर संकेत

---

१. भारत का भाषा सर्वेक्षण, भाग ९ (हिन्दी संस्करण)

२. वही

कर रहा है।) ओगिल्वी भाषा और लिपि को 'नागर' कहता है। पंजाब में बहुत समय तक हिन्दी को 'नागरी' कहा जाता था। सम्भवतः काशी की नागरी प्रचारिणी सभा का नाम 'नागरी' इसी अर्थ में रखा गया था जिससे भाषा और लिपि दोनों का बोध होता था ?) ग्रियर्सन ने अपने पूर्ववर्ती पाश्चात्यों का ही अनुकरण कर खड़ी बोली-रूप को हिन्दुस्तानी कहा है जिसमें उन्होंने उर्दू को भी सम्मिलित कर लिया है और मानक खड़ी बोली को जिसे उन्होंने साहित्यिक हिन्दुस्तानी कहा है, बोलचाल की हिन्दुस्तानी से उद्भव माना है जो उचित है। राहुल सांस्कृत्यायन तथा हिन्दी के अन्य भाषाविद् भी यही मानते हैं। राहुल ने बोलचाल की भाषा को जिसे ग्रियर्सन ने 'वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी' कहा है, कौरवी के नाम से अभिहित किया है। "साहित्यिक हिन्दुस्तानी को उसके अत्यधिक प्रचार और महत्व के कारण निश्चित रूप से पश्चिमी हिन्दी की आदर्श बोली समझना चाहिये।...साहित्यिक हिन्दुस्तानी अनेक शैलियों में सभ्य समाज की भाषा के रूप में लगभग समस्त भारत में प्रचलित है।...हिन्दुस्तानी बोलने की क्षमता रखने वालों में से अधिकांश अपनी-अपनी मातृभाषाओं के अतिरिक्त इसे एक दूसरी भाषा के रूप में प्रयुक्त करते हैं ?"[१]

ग्रियसन ने हिन्दुस्तानी, उर्दू तथा हिन्दी की परिभाषाएँ भी दी हैं। वे उसे गंगा के ऊपरी दोआब की भाषा तथा भारत के अन्तर्प्रादेशिक व्यवहार का माध्यम मानते हैं, जो फारसी और देवनागरी दोनों लिपियों में लिखी जा सकती है। इसकी साहित्यिक शैली में अत्यधिक फारसी एवं संस्कृत शब्दों को बचाया जाता है। "उर्दू हिन्दुस्तानी की वह शैली है जिसमें फारसी शब्द अधिक मात्रा में प्रयुक्त होते हैं और जो केवल फारसी लिपि में लिखी जा सकती है। इसी प्रकार हिन्दी हिन्दुस्तानी की वह शैली है जिसमें संस्कृत शब्दों का प्राचुर्य रहता है और जो इस कारण केवल देवनागरी लिपि में लिखी जा सकती है।"[२]

ग्रियर्सन ने फारसी शैली में लिखे हिन्दुस्तानी रूप को उर्दू कहा है। यह शैली फारसी पढ़े-लिखे कायस्थों तथा खत्रियों ने प्रचलित की है। सर चार्ल्स ल्याल के मत से हिन्दुस्तानी का यह अत्यधिक फारसीकरण "जनसाधारण की भाषा से अनभिज्ञ विजेताओं का कार्य नहीं था। ग्रहणशील हिन्दू द्वारा किये गये

१. भारत का भाषा सर्वेक्षण, भाग—९, हिन्दी संस्करण, पृष्ठ २०-२७
२. वही

अपने शासकों की भाषा को स्वीकृत करने के प्रयत्नों के फलस्वरूप उर्दू ने यह रूप ग्रहण किया।" इस शैली के आविष्कारक राजकीय पदों पर नियुक्त और फारसी से परिचित कायस्थ और खत्री थे। फारस के निवासी अथवा फारसी को ग्रहण करने वाले तुर्क नहीं थे।"[1]

जॉन बीम्स उर्दू को हिन्दी की उपबोली उचित ही मानते हैं। वे उत्तर भारतीय आर्यभाषाओं—बाँगला, उड़िया, गुजराती आदि से हिन्दी को अधिक सुदृढ़ सिद्ध करते हैं क्योंकि वह आर्यों के केन्द्र—मध्यदेश की है और प्रगतिशील है। वह तत्सम की अपेक्षा तद्भव और 'अरबी-फारसी' शब्दों को भी सहजता से ग्रहण करती है। ग्रियर्सन को हिन्दी के रूपों का निर्धारण करने में जान बीम्स से प्रेरणा प्राप्त हुई प्रतीत होती है। (मराठी का ज्ञान बीम्स को नहीं था, अतः उन्होंने उसे अरबी-फारसी से बहुत कम प्रभावित कहा है, पर बात ऐसी नहीं है। वह उक्त भाषाओं से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित है, पर हिन्दी के समान उनके तत्सम रूप उसने ग्रहण नहीं किये हैं। उनका तद्भव रूप उसने स्वीकार किया है)।

भाषा मिश्रण के उदाहरण हमारे देश में ही नहीं, विदेशों में भी मिलते हैं। मारीशश में क्रीओल नामक भाषा फ्रेंच (French) और भोजपुरी का मिश्रण है। मारीशश में १९वीं शताब्दी के अन्त तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में बिहार के भोजपुरी भाषी खेतों पर कार्य करने के लिए ले जाये गये थे, जहाँ वे बस गये। वहाँ फ्रेंच भाषा प्रचलित थी। अतः भोजपुरियों ने फ्रेंच में अपनी भाषा मिलकार एक नई खिचड़ी भाषा 'क्रीओल' को जन्म दे दिया।

हमारे देश में भी अनेक हिन्दी भाषी अपनी बोली में अंग्रेजी शब्दों का पुट दे कर अपने को आधुनिक शिक्षित सिद्ध करने के प्रयत्नों में एक खिचड़ी भाषा को जन्म दे रहे हैं। जिस प्रकार मुसलमानी शासन के प्रारम्भ में शिक्षित हिन्दुओं ने तत्कालीन दिल्ली के निकटवर्ती बोल-चाल की अपनी भाषा में अरबी-फारसी का मिश्रण कर एक नयी भाषा को जन्म दिया, जो उर्दू या हिन्दुस्तानी कहलायी। उसी प्रकार यह हिन्दी-अंग्रेजी मिश्रित भाषा 'इंग्लिस्तानी' कहला सकती है। पर यह प्रवृत्ति हिन्दी-भाषियों में ही नहीं है, अन्य भाषा-भाषी भी अपनी भाषा में अंग्रेजी शब्दों का प्रायः छिड़काव करते रहते है। बोलचाल में ही नहीं, लेखन में भी। खड़ी बोली में अंग्रेजी के शब्द और मुहावरे हो

---

१. भारत का भाषा सर्वेक्षण, भाग ९, हिन्दी संस्करण, पृष्ठ २०-२७

नहीं वाक्य-रचना के प्रकार भी प्रवेश कर गये हैं। वैयाकरणों ने अपनी व्याकरण भी अंग्रेजी व्याकरण के ढाँचे पर तैयार की है। वैयाकरण का कार्य नयी भाषा या नयी भाषा-प्रवृत्ति का निर्णय करना नहीं है, उसे तो भाषा के बहुजन प्रचलित रूप को नियमबद्ध कर प्रस्तुत कर देना मात्र है।

हिन्दुस्तानी, जो प्रारम्भ में हिन्दवी कहलाती थी, जब मुसलमानी सेनाओं के साथ दक्षिण में गयी तो दक्खिनी हिन्दवी कहलायी। विविध भाषाओं के शब्दों के मिश्रण से उसने नया रूप धारण किया, पर उसका प्रारम्भिक ढाँचा प्रायः खड़ी बोली हिन्दी का ही रहा। इसीलिए उसे दक्खिनी हिन्दी कहा गया (उर्दू भाषी उसे दक्खिनी उर्दू कहते हैं)।

दक्खिनी हिन्दी में अरबी-फारसी शब्द, जो मुसलमान फौजियों की जबान पर थे, स्वभावतः वे ही, साथ ही संक्रस्त के तत्सम, तद्भव, कन्नड़, मराठी, तेलगु आदि भाषाओं के शब्द भी सम्मिलित हो गये। यद्यपि दक्खिनी हिन्दी स्थानीय भाषाओं से अधिकांश में प्रभावित है, तो भी शब्द, लिंग आदि में फारसी का अनुकरण करती है।

स्त्रियों के लिए स्त्रीलिंग का प्रयोग न होकर पुलिंग का प्रयोग किया जाता है। माताजी आईं के स्थान पर 'माताजी आये' कहने की प्रवृत्ति है, (पंजाबी हिन्दी में भी यही प्रवृत्ति दिखायी देती है।)

दक्खिनी हिन्दी को ग्रियर्सन दक्खिनी हिन्दोस्तानी अथवा मुसलमानी कहते हैं। उनका मत है कि इसे मुसलमान बोलते हैं पर बात ऐसी नहीं है हिन्दू भी अपनी मातृभाषा (तेलगु, मराठी व कन्नड़ आदि) के अतिरिक्त इसे द्वितीय भाषा के रूप में बोलते हैं। कई बहमनी राज्य के बादशाहों ने हिन्दवी (दक्खिनी हिन्दी) को राजभाषा भी बनाया। सूफी सन्तों ने दक्षिण में दक्खिनी हिन्दी में ही गद्य-पद्य की रचनाएँ कीं। सूफी शाह मीरान जी की 'हिन्दी' का उदाहरण है—

> "एकस माटी मूली देवे, एकस माटी बाज,
> के तो भीख मंगावे, के तौं देवे राज
> केतों पार पितम्बर देता, के तों ऊपर धूम तलावे
> केतों ऊपर छाया।"

शाह का समय ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी का अंतिम चरण है। दूसरे सूफी 'नूसरती' कहते हैं—

"इधर साथ थी माँ के मधुमालती, इधर माँ के सँगात चम्पावती
बहुत दिन को जिस वक्त बिछड़े मिले।
एकाएक लगाए चंगुल कर गले, उन्हें क्यों सकियाँ चाँके सौ सात थीं
इनूं के कने भी उसी घात थी।"

दक्खिनी हिन्दी के प्रसिद्ध कवि वजही की 'सबरस' प्रसिद्ध रचना है। उसकी 'कुतुब मुश्तरी' की भाषा देखिए—

"छिपी रात उजाला हुआ दीस का, जग जग करन सेव परमेस का
जो आया झलकता सूरज दाटकर, अँधेरा जो था सो गया न्हाटकर
सूरज यूँ है रँग आसमानी मने कि खिलया कमल फूल पानी मने।"
(१६०८ ई०)

ग्रियर्सन का यह भी मत है कि हिन्दोस्तानी सर्वप्रथम दक्षिण में ही उर्दू के रूप में विकसित हुई और रेख्ता के जनकवली औरंगाबादी के द्वारा उसका साहित्यिक परिष्कार हुआ। वली के आदर्श पर दिल्ली में भी रचना होने लगी और उसके बाद उर्दू काव्य सारे उत्तरी भारत में फैला। इसके दक्षिणी उद्गम का एक प्रभाव यह है कि आज भी हमें उत्तर में लिखे उर्दू काव्य में दक्खिनी हिन्दी के ऐसे विशिष्ट प्रयोग मिलते हैं जिनका प्रयोग प्रामाणिक गद्य में नहीं होता। दक्खिनी हिन्दोस्तानी को सामान्यत: विकृत हिन्दोस्तानी कहा जाता है। यद्यपि ऐतिहासिक आधार पर साहित्यिक हिन्दोस्तानी को ही दक्खिनी हिन्दोस्तानी का विकृत रूप कहना अंशत: सही होगा, क्योंकि हिन्दोस्तानी का प्रारम्भ दक्षिण में हुआ। जनप्रचलित हिन्दोस्तानी परिष्कृत होने के पूर्व ही मुसलमानी सेनाओं द्वारा दक्षिण ले जायी गयी। "ग्रियर्सन ने एक दृष्टि से दक्खिनी हिन्दोस्तानी को 'विकृत भाषा' कहा है।" द्रविड़ परिवार की निकटवर्ती भाषाओं के प्रभाव से मद्रास तथा बम्बई प्रेसीडेंसी के दक्षिणी भाग में सकर्मक क्रियाओं के भूतकाल की कर्मवाच्य रचना छोड़ दी गयी। सकर्मक तथा अकर्मक क्रियाएँ अब समान ढंग से व्यवहृत होती हैं। कर्त्ता कभी-कभी ही करणकारक में 'ने' के साथ रखा जाता है। वैसे 'ने' को छोड़ दिया जाता है। क्रिया, वचन तथा लिंग की दृष्टि से कर्त्ता (यद्यपि करणकारक में) के अनुरूप होती है, कर्म के नहीं। दूसरी ओर मध्य बम्बई में मराठी के कारण करणकारक का उचित व्यवहार नहीं होता।

ग्रियर्सन के इस मत का कि उर्दू का जन्म दक्षिण में हुआ अब खण्डन होने लगा है। एहतेशाम हुसैन अपने 'उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में

लिखते है, "उर्दू की जन्मभूमि पंजाब और दिल्ली है।" अपभ्रंश से विकास पाने वाली अन्य भाषाओं में एक उर्दू भी है, यही कारण है कि उर्दू, पंजाबी और हरियानी के व्याकरणों में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। ......उर्दू न तो विदेशी भाषा है, न वह सिंध में पैदा हुई और न दक्षिणी भारत में, न पंजाबी से निकली, न ब्रजभाषा से। उसका दिल्ली के चारों ओर बोली जाने वाली फारसी-अरबी के शब्दों के मिलने और पश्चिमी हिन्दी को उस बोली में, जिसे खड़ी बोली कहा जाता है, रूप ग्रहण करने से एक नयी भाषा का विकास हुआ। प्रारम्भ में उस पर पंजाबी प्रभाव अधिक रहा, परन्तु धीरे-धीरे खड़ी बोली ही उर्दू के रूप में निखरती गयी।......इसका मूल आधार खड़ी बोली है, किन्तु एक जीवित भाषा होने के कारण उसमें उन सभी भाषाओं से शब्द आ गये हैं, जिनसे उसका सम्पर्क रहा है।......लगभग १८वीं सदी के अन्त तक उर्दू शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में नहीं मिलता, उस समय रेख्ता या हिन्दी दो ही शब्द कवियों की जबान पर चढ़े हुए थे। रेख्ता (संगीत का एक पारिभाषिक शब्द था जिसमें राग-रागरानियाँ मिलायी जाती थीं)। शब्द पद्य के लिए काम में लाया जाता था, गद्य के लिए हिन्दी ही बोलते और लिखते थे।

कभी-कभी इसे जबाने उर्दू या जबाने उर्दू-ए-मुअल्ला का प्रयोग किया जाता था।......यूरोपियन लेखकों ने इसे हिन्दुस्तानी (या हिन्दोस्तानी) कहना भी प्रारम्भ किया।"

ग्रियर्सन के समान एहतेशाम हुसैन का भी मत है कि 'खड़ी बोली में जो परिवर्तन हुआ उसमें वह भाषा बनी जिसको साधारणतः हिन्दुस्तानी कहा जाता है। इस हिन्दुस्तानी के दो रूप हैं। (१) उर्दू, जिसमें अरबी-फारसी शब्द अधिक होते हैं और जिसे फारसी लिपि में लिखा जाता है। (२) हिन्दी जिसमें संस्कृत शब्दों का प्रयोग होता हैं, जिसे नागरी लिपि में लिखा जाता है।

ए० हुसैन, यदि वर्तमान हिन्दी साहित्य के सम्पर्क में हैं तो उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि हिन्दी में केवल संस्कृत शब्दों का प्रयोग नहीं होता, अरबी-फारसी शब्दों का भी प्रयोग होता है। इसके विपरीत उर्दू अपनी मूलभाषा की प्रवृत्ति से दूर होती जा रही है, वह हिन्दी में ग्रहीत संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों से परहेज करती है। मध्यकाल में सूफियों ने जन-जीवन में प्रविष्ट हो कर जनभाषा को अपनाया था। उन्होंने लोक-कथाओं को लोकभाषा में ग्रथित कर लोक-यश कमाया था। कुतबन, जायसी इसके उदाहरण हैं। १२वीं

शताब्दी में बाबा शकरगंज, अमीर खुसरो (मृत्यु-१३२४) आदि की हिन्दी या हिन्दोस्तानी की रचनाओं में किसी भाषा से न विशेष मोह था, न विरक्ति। अमीर खुसरो जो अनेक भाषाओं के पण्डित थे, न केवल लोकभाषा को प्रश्रय देते थे, वरन भारतीय जीवन और प्राकृतिक वातावरण को भी चित्रित करते थे। वे कितनी प्रांजल हिन्दी में कहते हैं—

> "गोरी सोवे सेज पर और मुख पर डारे केस
> चल खुसरो घर आपने रैन भई सब देस ॥"

ब्रजभाषा की मणिप्रवाल शैली की रचना देखिये :—

> "जे हाले मिस्कीं मकुन तगाफुल, दुराए नैनां बनाए बतियाँ।
> किताबे हिजराँ न दारम ए जाँ, न लीन्हो काहे लगाए छतियाँ ॥

खुसरो के नाम पर खालिकबारी भी प्रचलित है। यह फारसी-हिन्दी-कोष है। पर इसके सम्बन्ध में मतभेद है। खालिकबारी के सम्पादक प्रो० महमूद शेरवानी का कथन है कि यह १३वीं शताब्दी के खुसरो की नहीं है, १७वीं शताब्दी के जियाउद्दीन खुसरो की कृति है। इसी प्रकार खुसरो के नाम हिन्दी की पहेली मुकरियों को भी खुसरोकृत नहीं माना जाता, क्योंकि उनकी भाषा आधुनिक है। अनेक प्राचीन कवियों के सम्बन्ध में इसी प्रकार का सन्देह प्रकट किया जाता है। उत्तर भारत में मुसलमानों के आक्रमणों के परिणामस्वरूप कई महत्वपूर्ण साहित्य-कृतियाँ नष्ट हो चुकी हैं। अतः प्राचीन साहित्य की शृंखलाएँ मिलाना कठिन हो जाता है। दक्षिण के कवियों के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। उनकी रचनाएँ सुरक्षित हैं। उनके उदाहरण तत्कालीन भाषा के रूप का ज्ञान कराते हैं। कुछ सूफी सन्तों की भाषा हम ऊपर दे चुके हैं। हम उर्दू के प्रथम कवि 'वली' की दक्खिनी हिन्दी का उदाहरण देते हैं—

> "सलोने सांवरे पीतम तेरे मोती की झलकां ने।
> किया अवदे पुरंय्या को खराब आहिस्ता आहिस्ता ॥"

परन्तु जब 'वली' दिल्ली पहुँचे तो वहाँ एक सूफी सन्त शाह गुलशन ने उनकी रुझान अरबी-फारसी की ओर कर दी। ऐसी दक्खिनी 'हिन्दी' के 'वली' जब उत्तर में पहुँचे तो उनकी शैली हिन्दोस्तान के बाहर की हवा खाने लगी.........

> "वो हुस्न का मसनदनशीं वो दिल्वरे मुमताज है
> दिलवरों का हुस्न जिस मसनद का पा अन्दाज है

याद से इस रश्के गुलजारे इरम के ऐ 'वली'
[illegible] को मेरे सदा क्यों बूए गुल परवाज़ है ।[1]

'वली' क्योंकि उर्दू-काव्य के 'बाबा आदम' माने गये हैं, इसीलिए उनकी अरबी-फारसी मिली भाषा उर्दू के कवियों ने अनुसरण किया। काश, उर्दू के कवि अपनी जन्मभूमि की भाषा और संस्कृति में रमे होते जैसे कि मध्यकालीन सूफी और नजीर, रहीम, रसखान आदि रमे थे, तो भारत में भाषा-समस्या राजनीति न बन पाती और न उर्दू अपनी पृथक् हस्ती बनाने के लिए हिन्दी की 'मुखालफत' करती। अब तो दुर्भाग्य से 'उर्दू' को जो हिन्दी का ही रूप है, मुसलमान अपनी जबान (मजहबी जबान) कहने लगे और हिन्दी को हिन्दुओं की 'भाखा' कह उससे बिदकने लगे। भाषा–राजनीति के पूर्व, हिन्दी-उर्दू पर जब दोनों जातियों का समान अधिकार था—दोनों ने उसके विकास में योगदान दिया है।

ए० हुसैन ने 'वली' की ईरान की ओर रुझान का समर्थन करते हुए लिखा है कि "वली" पर यह आरोप लागाना कि उन्होंने उर्दू काव्य का मुँह भारत से हटा कर ईरान की ओर कर दिया, ठीक नहीं है।

जिस समय मुगल राज्य का पतन होना शुरू हुआ उसी समय से अवधी और ब्रजभाषा ने साहित्यिक रूप से उन्नति करना कम कर दिया था। दूसरा कारण यह कि विद्वानों ने चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान सामन्तवादी गौरव सामने रख कर फारसी को अपनाने की चेष्टा की थी और बोलचाल के लिए स्थानीय भाषा का प्रयोग करते थे। ऐसा लगता है वह अपनी भाषा की साहित्यिक शक्ति का कुछ ठीक अनुमान नहीं लगा सकते थे, इसलिए जब 'वली' ने दिल्ली पहुँच कर एक उन्नतिशील भाषा देखी तो उनकी दकनी उर्दू से समानता रखते हुए भी पृथक् रूप रखती थी, तो उन्होंने उसे अपने विचारों और भावनाओं को प्रकट करने के लिए स्वीकार कर लिया।"[2]......

हुसैन की उपर्युक्त दलील सन्तोष पदान नहीं करती। ब्रज-अवधी जीवित भाषाएँ थीं। यदि उनकी गति नहीं थी तो खड़ी बोली के उर्दू रूप में जो दिल्ली में प्रचलित थी लोग खड़ी बोली को व्यवहार में लाते थे। अफजल पानीपती भारतीय परम्परा में 'बारहमासा' और 'विकट कहानी' उसी समय लिख भी रहे थे। वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि "उस युग के कवि 'फाइज'

---

१. उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ५२
२. उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास

आबरु, नाजी, हातिम, चंकरंग मजहर जाने जो मजमून फुगों, ताबां:.. का उर्दू साहित्य में उच्च स्थान है। उनकी भाषा सरल हिन्दुस्तानी थी। ये लोग फारसी के विद्वान् होने के कारण उससे निश्चित रूप से प्रेरित होते थे, परन्तु उनकी भावनाओं-विचारों में भारतीयता मिली हुई है। जिस उर्दू का प्रयोग यहाँ की कविता में होता था उसे रेख्ता कहते थे जिसका अर्थ है मिला-जुला।''

निष्कर्ष यह कि 'वली' को उनकी दकनी हिन्दी से मिलती-जुलती भाषा, जिसमें साहित्य लिखा जाता था, उपलब्ध थी। उनका झुकाव ईरान की ओर होने का रहस्य समझ में नहीं आता। पर इस झुकाव ने उर्दू कविता की शैली में ईरानी रंग इतना अधिक भर दिया कि वह भारतीयता खो बैठी।

• •

हिन्दी की वर्तनी और लिंग-समस्या

हिन्दी की वर्तनी और लिंग समस्या पर हिन्दी जगत् में वर्षों पूर्व से विवाद चला आ रहा है। हम अप्रैल सन् १९११ की 'हितकारिणी' पत्रिका से, जो जबलपुर से (स्व०) पं० रघुबर प्रसाद द्विवेदी, बी० ए० के सम्पादकत्व में निकलती थी, निम्न टिप्पणी उद्धृत करते हैं, जो सम्पादक द्वारा ही लिखी गयी प्रतीत होती है—

(१) प्राय: देखा जाता है कि संस्कृत के हलन्त शब्दों में कई लेखक तो हल् लगाते हैं और कई नहीं लगाते। कोई तो अर्थात्, सन्, श्रीमान्, वृहत्, पशुवत्—इस प्रकार लिखते हैं और कोई श्रीमान, वृहत, पशुवत लिखते हैं (और) कोई दोष नहीं देखते।—वास्तव में श्रीमान् को श्रीमान लिख देने में हिन्दी व्याकरण सम्बन्धी कोई आपत्ति नहीं दीखती। फिर हल् का झगड़ा किस काम का ?

(२) इसी तरह अङ्ग और अंग; वञ्चित और वंचित् दोनों तरह से लोग लिखते हैं। हमारी समझ में पहले और दूसरे रूप संस्कृत भाषा में शुद्ध ही हैं। तब दूसरे भी यदि हिन्दी में लिखे जायें तो कोई आक्षेप की बात नहीं है। दूसरे रूपों के व्यवहृत होने से लिपि में सुगमता आ जायगी।

(३) चन्द्र-बिन्दु और अनुस्वार के सम्बन्ध में भी बहुत मतभेद दीखता है। कई लोग तो चन्द्र-बिन्दु का बहुतायत से उपयोग करते और कोई उसके बदले अनुस्वार ही लगाते हैं। जिनकी मातृभाषा हिन्दी है वे तो प्रत्येक शब्द का उच्चारण ठीक ही करते हैं।[1] चाहे चन्द्र-बिन्दु लगाया जाय, चाहे अनुस्वार पर कविता में चन्द्र-बिन्दु का उपयोग आवश्यक है। हिन्दी गद्य में उसकी इतनी आवश्यकता नहीं है और इन सब भेदों के रखने से तो हिन्दी सामयिक पत्रों को चलाने वालों को प्रूफ देखने में विशेष कठिनाई पड़ती है। कम्पो-

---

१. मेरे मत से द्विवेदी जी की यह धारणा ठीक नहीं है। हिन्दी-भाषी भी उच्चारण च्युति के दोषी हैं।—लेखक

ज़िटर लोग इन बारीकियों को नहीं समझते। इसलिए बड़ी गड़बड़ी होती है। हमारी समझ में चन्द्र-बिन्दु को उठा देने में कोई क्षति नहीं है।

(४) सकता-सक्ता, जायं-जाँय, कहें-कहैं, जायगा-जावेगा-जाएगा, हुआ-हुवा, गई-गयी, इनने-इन्होंने, सबही-सभी, हुए-हुवे-हुये आदि रूप हिन्दी में बोले जाते हैं। कई लोग जैसा बोलते वैसा लिखते भी हैं। हमारे मध्यप्रदेश की पाठ्य पुस्तकों में सक्ता—जायँ, कहें, जावेगा व जावेगा, हुआ, गई, इन्होंने, हुए आदि रूपों का ही उपयोग किया (गया) है। इससे ये रूप इस प्रान्त में प्रचलित हो गये हैं। हुआ, गई आदि रूप तो उच्चारण के अनुसार शुद्ध हैं। उनका अन्तिम स्वर ही बोला जाता है, न कि व्यंजन।" द्विवेदी जी की 'हितकारिणी' के इसी अंक में कुछ शब्दों की वर्तनी द्रष्टव्य है—नर्म्मदा, सक्ता, सर्व्वसाधारण, धर्म्म, प्रत्यैक, मर्य्यादा, कार्य्यकुशल, पूर्व्वज, विद्वान्, श्रीमान्।

पं० रघुबरप्रसाद द्विवेदी विदेशी शब्दों को तत्सम रूप में लिखने के पक्ष में प्रतीत होते हैं। इसी से वे सेठ ख़ुशालचन्द्र, माफ़, फ़ीस, ग़रीब, एवज़ीदार, ग़ुल्ला सफ़ाई, तूफ़ान, क़दम, बरतरफ़, मेट्रीक्यूलेशन, एडमिशन, ख़ूब, ख़ुफिया तारीख़ आदि। पं० महाबीरप्रसाद द्विवेदी भी अरबी-फारसी शब्दों के शुद्धरूप में नीचे बिन्दी रखने के पक्ष में थे। बाबू श्यामसुन्दरदास पक्ष में नहीं थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी आचार्य महाबीरप्रसाद द्विवेदी के समान अरबी-फारसी शब्दों के नीचे बिन्दी (नुक्ता) रखने के पक्ष में थे। जैसे क़वायत, ज़रा आदि। परन्तु हिन्दी के वे ही लेखक अरबी-फारसी के शब्दों को तत्सम रूप में लिखने में सतर्क रहते हैं, जो इन भाषाओं से परिचित हैं। सम्भवतः इसी से कई लेखक इन भाषाओं के शब्दों के नीचे नुक्ता रखने के पक्ष में नहीं हैं। मराठी-गुजराती आदि भाषाओं में अरबी-फारसी शब्दों को विकृत रूप में ही ग्रहण किया गया है। इन भाषाओं में शब्दों के तत्सम रूप अशुद्ध माने जाते हैं। साधु हिन्दी शब्दों के तत्समरूप को ग्रहण कर भाषा के स्वाभाविक विकास का उदाहरण प्रस्तुत नहीं करती। उप भाषाओं में यह प्रवृत्ति नहीं देखी जाती।

लिंग

लिंग का अर्थ चिह्न होता है। संज्ञा शब्द या तो प्राणीवाचक होंगे या अप्राणीवाचक। (प्राणीवाचक पुल्लिंग या स्त्रीलिंग होने और अप्राणीवाचक) शब्द संस्कृत में तो नपुंसक लिंग माने जाते हैं, परन्तु हिन्दी में पुल्लिंग और स्त्रीलिंग में विभाजित हो गये हैं। हिन्दी में शब्द संस्कृत के

तत्सम और तद्भव रूपों में तथा संस्कृतेतर शब्द भी तत्सम और तद्भव रूपों में ग्रहण किये गये हैं। संस्कृतेतर शब्द, फारसी, अरबी, अंग्रेजी, पुर्तगाली, फ्रेंच आदि भाषाओं से गृहीत है। विदेशी शब्दों के लिंग देशी शब्दों के लिंग का प्राय: अनुकरण करते हैं। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी के कार, रेल (हिन्दी की) गाड़ी के कारण स्त्रीलिंग हैं, हवाईजहाज, यान (संस्कृत) के कारण पुल्लिंग है। संस्कृत शब्दों के लिंग-निर्धारण में व्याकरणाचार्य पं० कामता प्रसाद गुरु के निम्न नियम मार्गदर्शक हो सकते हैं—

पुल्लिंग शब्द

(१) 'त्र' अन्त वाली संज्ञाएँ, जैसे चित्र, क्षेत्र, पात्र, नेत्र, चरित्र, शास्त्र आदि।

(२) 'न' अन्त संज्ञाएँ जैसे पालन, पोषण, दमन, वचन, नयन, गयन, हरण आदि।

(३) 'ज' प्रत्यान्त संज्ञाएँ, जैसे जलज, स्वेदज, पिंडज, सरोज, इत्यादि।

(४) जिन भाववाचक संज्ञाओं के अन्त में त्व, त्य, व, य होता है,—जैसे सतीत्व, बहुत्व, नृत्य, कृत्य, लाघव, गौरव, माधुर्य, धैर्य इत्यादि।

(५) जिन शब्दों के अन्त में आर, आय, वा आस हो, जैसे विकार, विस्तार, संसार, अध्याय, उपाय, समुदाय, उल्लास, विकास, ह्रास इत्यादि—अपवाद, आय, असहाय।

(६) 'त' प्रत्यान्त संज्ञाएँ, जैसे चरित, गणित, मत, गति, स्वागत इत्यादि।

(७) जिनके अन्त में 'ख' होता है, जैसे—नख, मुख, सुख, दुख, लेख, मख, शंख आदि।

स्त्रीलिंग शब्द

(१) आकारान्त संज्ञाएँ जैसे—दया, माया, कृपा, लज्जा, क्षमा, सभा इत्यादि।

(२) नाकारान्त संज्ञाएँ जैसे—प्रार्थना, वेदना, प्रस्तावना, रचना, घटना इत्यादि।

(३) उकारान्त संज्ञाएँ—वायु, रेणु, रज्जु, जखु, मृत्यु, आयु, वस्तु, धातु ऋतु इत्यादि। अपवाद, मधु, अश्रु, तालु, हेतु, सेतु इत्यादि।

(४) जिनके अन्त में 'ति' वा नि' हो, जैसे गति, मति, जाति, रीति, हानि, ग्लानि, योनि, इत्यादि।

(५) 'त' प्रत्यान्त भाववाचक संज्ञाएँ—नम्रता, लघुता, सुन्दरता, प्रभुता, जड़ता इत्यादि।

(६) इकारान्त संज्ञाएँ—जैसे निधि, विधि, परिधि, राशि, अग्नि, छवि केलि, रुचि।

(७) इमाप्रत्यान्त शब्द जैसे—महिमा, गरिमा, कालिमा, लालिमा इत्यादि।

कतिपय अपवादों के साथ संस्कृत में जो शब्द स्त्रीलिंग या पुल्लिग थे वे हिन्दी में भी उसी लिंग के साथ प्रचलित हो गये।

अपवादी शब्द हैं—अग्नि, आत्मा, देह संस्कृत के पुल्लिग शब्द हिन्दी में स्त्रीलिंग रूप में प्रचलित हैं। इसी प्रकार देवता और व्यक्ति स्त्रीलिंग होते हुए भी हिन्दी में पुल्लिग बन गये।

संस्कृत के कई नपुंसक लिंगवाची शब्द हिन्दी में पुल्लिग रूप में प्रचलित हैं। प्रत्येक भाषा की अपनी प्रकृति होती है। अतः उसके व्यावहारिक ज्ञान से ही लिंगादि का ज्ञान हो सकता है। इसी से महर्षि पतंजलि ने लिंग-विवेचन के सम्बन्ध में कहा है—

"लिंगमशिष्यं लोकाश्रत्वाल्लिंगस्य इति।"

हिन्दी क्षेत्रों में ही एक ही शब्द कहीं पुल्लिग और कहीं स्त्रीलिंग है। उदाहरणार्थ—हाथी विहार में स्त्रीलिंग और अन्य क्षेत्रों में पुल्लिग है।

शिक्षा-मन्त्रालय, भारत सरकार ने १९६१ में हिन्दी वर्तनी की मानक पद्धति निर्धारित करने के लिए एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त की थी जिसने अपनी निम्न सिफारिशें प्रस्तुत की हैं—

(१) हिन्दी के विभक्ति-चिह्न सर्वनामों के अतिरिक्त सभी प्रसंगों में प्राति-पदिक से पृथक् लिखे जाएँ जैसे राम ने, स्त्री को, मुझको। परंतु प्रेस की सुविधाओं को ध्यान में रख कर पत्र-पत्रिकाओं में संज्ञादि शब्दों में भी विभक्तियाँ मिलाने की छूट रहे।

अपवाद—(क) सर्वनामों के साथ यदि दो विभक्ति-चिह्न हों तो उनमें से पहला मिला कर और दूसरा पृथक् लिखा जाये, जैसे, उसके लिए, इसमें से।

(ख) सर्वनाम और विभक्ति के बीच 'ही', 'तक' आदि का निपात हो तो विभक्ति को पृथक् लिखा जाये, जैसे आप ही के लिए मुझ तक को।

(२) संयुक्त क्रियाओं में सभी अंगभूत क्रियाएँ पृथक्-पृथक् लिखी जायें जैसे पढ़ा करता है, आ सकता है।

(३) 'तक', 'साथ' आदि अव्यय सदा पृथक् लिखे जायें, जैसे आपके साथ, यहाँ तक।

(४) पूर्वकालिक प्रत्यय 'कर' क्रिया से मिला कर लिखा जाये, जैसे, मिलाकर, खा-पीकर, रो-रोकर।

(५) द्वन्द्व समास में पदों के बीच हाइफन रखा जाये, जैसे राम-लक्ष्मण शिव-पार्वती-संवाद।

(६) 'सा', जैसा आदि से पूर्व हाइफन रखा जाये, जैसे, तुम-सा, राम-जैसा, चाकू-से तीखे।

(७) तत्पुरुष समास में हाइफन का प्रयोग केवल वहीं किया जाये, जहाँ उसके बिना भ्रम होने की सम्भावना हो। अन्यथा नहीं, जैसे भू-तत्व रामराज्य।

(८) जहाँ श्रुतिमूलक य-व का प्रयोग विकल्प से होता है वहाँ न किया जाये, अर्थात् गए-गये, नई-नयी, हुआ-हुवा आदि में से पहले (स्वरात्मक) रूपों का ही प्रयोग किया जाये। यह नियम क्रिया, विशेषण, अव्यय आदि सभी रूपों में माना जाये।

(९) हिन्दी में ऐ (ै), और औ (ौ) का प्रयोग दो प्रकार की ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए होता है। पहले प्रकार की ध्वनियाँ 'है' 'और' आदि में हैं तथा दूसरे प्रकार की गवैया, 'कौवा' आदि में। इन दोनों ही प्रकार की ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए इन्हीं चिह्नों (ऐ, ै, औ, ौ) का प्रयोग किया जाये, 'गवय्या', कव्वा आदि संशोधनों की आवश्यकता नहीं।

(१०) संस्कृतमूलक तत्सम शब्दों की वर्तनी में सामान्यत: संस्कृत रूप ही रखा जाये। परन्तु जिन शब्दों के प्रयोग में हिन्दी में हलन्त चिह्न लुप्त हो चुका है उनमें उसको फिर से लगाने का यत्न न किया जाये, जैसे, महान 'विद्वान' आदि में।

(११) जहाँ पंचमाक्षर के बाद उस वर्ग के शेष चार वर्णों में से कोई वर्ण हो वहाँ अनुस्वार का ही प्रयोग किया जाये, जैसे, अंत, अन्य, गंगा, वाङ्मय, संपादक, साम्य सम्मति।

(१२) चन्द्र-बिंदु के बिना प्राय: अर्थ में भ्रम की गुंजाइश रहती है, जैसे, हंस, हँस, अंगना, अँगना आदि में। अतएव ऐसे भ्रम को दूर करने के लिए

चन्द्र-बिन्दु का प्रयोग अवश्य किया जाना चाहिये । किंतु जहाँ चन्द्रबिन्दु के प्रयोग से छपाई आदि में बहुत कठिनाई हो और चन्द्रबिन्दु के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न न करे वहाँ चन्द्र-बिन्दु के स्थान पर अनुस्वार के प्रयोग की भी छूट दी जा सकती है, जैसे, नहीं, में, मैं । परंतु कविता आदि के ग्रन्थों में छन्द की दृष्टि से चन्द्र-बिन्दु का यथास्थान अवश्य प्रयोग किया जाये । इसी प्रकार छोटे बच्चों की प्रवेशिकाओं में जहाँ चन्द्र-बिन्दु का उच्चारण सिखाना अभीष्ट हो वहाँ उसका यथास्थान सर्वत्र प्रयोग किया जाए ।

(१३) अरबी-फारसी शब्द जो हिन्दी के अंग बन चुके हैं और जिनकी विदेशी ध्वनियों का हिन्दी ध्वनियों में रूपान्तर हो चुका है, हिन्दी रूप में ही स्वीकार किये जायें, जैसे जरूर । परन्तु जहाँ पर उसका शुद्ध विदेशी रूप में प्रयोग अभीष्ट हो वहाँ उनके हिन्दी में प्रचलित रूपों में यथास्थान नुक्ते लगाये जायें, जिससे उनका विदेशीपन स्पष्ट रहे, जैसे राज़, नाज़ ।

(१४) अंग्रेजी के जिन शब्दों में अर्ध विवृत 'ऑ' ध्वनि का प्रयोग होता है उनके शुद्ध रूप का हिन्दी में प्रयोग अभीष्ट होने पर 'आ' की मात्रा (ा) के ऊपर अर्धचन्द्र का प्रयोग किया जाये (ऑ, ॉ) ।

(१५) संस्कृत के कुछ शब्दों में विसर्ग का प्रयोग अवश्य किया जाये, जैसे, 'दुःखानुभूति' । परन्तु यदि उस शब्द के तद्भव रूप में विसर्ग का लोप हो चुका हो तो उस रूप में विसर्ग के बिना भी काम चल आयेगा, जैसे 'दुख-सुख के साथी ।'

केन्द्रीय शासन की मानक वर्तनी बहुत चिन्तन का परिणाम अवश्य है पर लेखकों की स्वच्छन्द वृत्ति उसका कहाँ तक पालन करती है, यह विचारणीय है ।

• •

हिन्दी-मराठी की निकटता

डॉ० ग्रियर्सन ने लिंगविस्टिक सर्वे, भाग १, खण्ड १, पृष्ठ १२० में वर्तमान आर्य-भाषाओं का बाहरी, मध्य और भीतरी उपशाखाओं में विभाजन किया है। बाहरी उपशाखा में उत्तर की ओर लहन्दा, सिंधी, दक्षिण में मराठी और पूर्व में उड़िया, बिहारी, बंगाली, असमिया, मध्य उपशाखा में पूर्वी हिन्दी तथा भीतरी उपशाखा (केन्द्रीय) में पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, भीली, खानदेशी और राजस्थानी को रखा गया है।

उच्चारण, व्याकरण आदि की भिन्नता के कारण डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने उपर्युक्त वर्गीकरण को उचित नहीं माना। उन्होंने ग्रियर्सन के अनेक निष्कर्षों का सप्रमाण खण्डन कर भारतीय आर्य-भाषाओं का उदीच्य (उत्तरी), प्रतीच्य (पश्चिमी), मध्यप्रदेशीय, प्राच्य (पूर्वी) और दक्षिणी के नाम से वर्गीकरण किया है। उन्होंने उदीच्य में सिन्धी, लहन्दा, पूर्वी पंजाबी, प्रतीच्य में गुजराती, राजस्थानी, मध्यदेशीय में पश्चिमी हिन्दी, प्राच्य में कोशली अथवा पूर्वी हिन्दी, बिहारी, उड़िया, बंगला, असमिया तथा दक्षिणी में मराठी का समावेश किया है।

भाषाओं को भीतरी-बाहरी समुदायों में बाँटने की अपेक्षा उनका परस्पर साम्य और विभेद दिखाना अधिक समीचीन होता है। यों भाषा में साम्य और विभेद के नियम भी शाश्वत नहीं होते। वे तो विशेष काल की स्थिति के द्योतक मात्र होते हैं। ग्रियर्सन ने वर्षों पहिले जो निरीक्षण के परिणाम लेखबद्ध किये थे, उनमें आज परिस्थितियों के परिवर्तन से अन्तर आ गया है। भाषा बोलने वाले लोग जब ग्रामों से नगरों में जाते हैं, तो वहाँ अनेक भाषाओं के सम्पर्क में आकर अपनी भाषा या बोली में अनजाने अन्य भाषाओं की प्रवृतियों को ग्रहण करने लगते हैं। देश में राजनीतिक आन्दोलनों का प्रभाव भाषा पर पड़ता है। तमिलनाड् में आर्य-भाषाओं के विरोध की लहर चल पड़ने से उससे संस्कृत शब्द चुन-चुन कर निकाले जा रहे हैं और

स्वाधीनता प्राप्त हो जाने के बाद से भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार की प्रवृत्ति के कारण हिन्दी-क्षेत्रों की साहित्यिक भाषा में आज संस्कृत शब्द तत्सम रूप में भरे जा रहे हैं। महाराष्ट्र में भी एक समय मराठी से अरबी-फारसी शब्दों को निकालने का यत्न किया गया था। उसमें कई शब्द ऐसे हैं जिन्हें सानुस्वार लिखा तो जाता है पर बोला नहीं जाता, अतः एक आन्दोलन ऐसा भी उठाया जा रहा है कि अनुच्चरित अनुस्वारों को शब्दों से निकाल कर ही छापा जाय। क्योंकि पुस्तकों से भाषा सीखने वाले व्यक्ति अनुस्वार सहित मुद्रित शब्दों में अनुस्वार को प्रचलित ध्वनि समझ कर उनका गलत उच्चारण करेंगे। इसी सिद्धान्त पर अमेरिकन अंग्रेजी भाषा के शब्दों के हिज्जे (वर्तनी) उनके वर्तमान उच्चारण-रूप पर निर्धारित कर परिवार की एक ही समुदाय की भाषाओं में परस्पर भेद दिखलाई पड़ता है। पूर्वी हिन्दी की अवधी में जहाँ क्रिया के स्त्री लिंग और पुल्लिग दोनो रूप होते हैं, वहीं उसी की उपभाषा छत्तीसगढ़ी में क्रिया के ऐसे कोई रूप नहीं होते।

इसी प्रकार पुणे की मराठी में जहाँ कर्त्ता के साथ कोई विभक्ति नहीं लगती, वहाँ बर्‌हाड़ी मराठी में खड़ी बोली के समान 'ने' विभक्ति लगती है। कुछ वर्णों के उच्चारण-भेद डॉ० कोलते ने मुझे बतलाये हैं। पूनाई मराठी में 'ल' का उच्चारण 'य' और कभी-कभी 'इ' का उच्चारण 'ल' के समान होता है। यथा-पूनाई मराठी बालापुर चा बालाजी झमझम झमकतो।— वर्‌हाड़ी मराठी-बायापुर चा बायाजी झमझम झमकते। पूना म० का तृतीय-चतुर्थी का 'ला' प्रत्यय बर्‌हाड़ी में 'ले' हो जाता है। यथा पूनाई-तुला मारतो बरहाड़ी तुले मारतो। बरहाड़ी में क्रिया पदों में स्त्री और पुल्लिंग रूप समान होते हैं। पूनाई मराठी में पुरुष कहेगा 'मी जातो' स्त्री कहेगी, 'मी जाते' बर्‌हाड़ी मराठी में पुरुष कहेगा 'मी जाते' और स्त्री कहेगी 'मी जातो'।

बर्‌हाड़ी का शब्द-भाण्डार खड़ी बोली, उर्दू, तेलुगु, आदि से प्रभावित होते हुए भी संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों में काफी भरा हुआ है। वह प्राचीन मराठी के अधिक निकट है और यह स्वाभाविक भी है। आर्यों का उत्तर से दक्षिण में प्रथम प्रवेश विदर्भ में हुआ है। इस तरह हम देखते हैं कि भाषा के रूप-भेद व्यापक और स्थायी नहीं होते और इसीलिए उनसे सम्बन्ध रखने वाले नियम भी स्थायी नहीं होते। भाषाओं के सम्बन्ध में किसी नियम को आग्रह के साथ शाश्वत कह कर प्रतिपादित करना व्यर्थ

प्रतीत होता है। वास्तविकता यह है कि परिवर्तित प्रवृत्तियों की समय-समय पर छानबीन होती रहनी चाहिये।

अब हम संक्षेप में यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि मराठी का पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी की ओर कितना झुकाव है ?

मराठी और हिन्दी की प्रवृत्तियाँ

हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं की लिपि देवनागरी अथवा बालबोध है। वर्णमाला में समानता है, कुछ वर्ण भिन्न भी थे यथा, हिन्दी अ मराठी अ, हिन्दी ण मराठी ण, पर अब यह भेद नहीं रहा। व्यजनों में 'ल' के साथ 'ळ' व्यंजन ध्वनि मराठी में अधिक कही जाती है। परन्तु यह कथन पूर्वी हिन्दी में लागू होता है। पश्चिमी हिन्दी की राजस्थानी, मालवी और निमाड़ी में यह (ळ) ध्वनि है।[१] मराठी में च़ और ज़ ध्वनियाँ भी उच्चारित होतीं हैं। च और ज दोनों वर्णों के नीचे नुक्ता लगता है।

कर्त्ता कारक एकवचन अकारान्त संज्ञा-शब्द प्राचीन मराठी में 'उ' और ओकारान्त होते हैं। जब उकारान्त होते हैं तब पूर्वी हिन्दी का अनुसरण करते हैं और जब, ओकारान्त होते हैं तब पश्चिमी हिन्दी का। पश्चिमी हिन्वी में भी कहीं-कहीं अकारान्त संज्ञा-शब्दों का कर्ता एकवचन में उकारान्त रूप मिलता है।

मराठी और पश्चिमी भाषाओं (गुजराती, राजस्थानी आदि) के वर्ण-उच्चारणों में प्रायः समानता रहती है। 'अ' का उच्चारण ह्रस्व 'अ' ही होता है, बंगला के समान 'ओ' नहीं। बिहारी भाषाओं में शब्दारम्भ की अ ध्वनि ओ की तरह उच्चारित होती है। यथा कहते—कोहते आदि।

'व' और 'ब' का भेद मराठी में पश्चिमी हिन्दी विशेषकर खड़ी बोली, राजस्थानी आदि के समान स्पष्ट दिखायी देता है।

मराठी में च, ज, झ का जिस प्रकार उच्चारण होता है उस प्रकार पूर्वी भाषाओं में नहीं होता। मराठी में इनके शुद्ध तालव्य और दन्त्य तालव्य उच्चारण मिलते हैं। मराठी में दन्त्य, मूर्धन्य और तालव्य–स, ष और श वर्ण विद्यमान हैं। पश्चिमी हिन्दी में ये तीनों वर्ण हैं पर मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण 'ख' होता है। पूर्वी हिन्दी (अवधी) में तत्सम शब्द-रूपों में 'श' आता है पर तद्भव शब्दों में 'स' ही प्रयुक्त होता है। बिहारी और सुदूर पूर्व की बंगला

---

१. यह ध्वनि उड़िया, पंजाबी और गुजराती में भी पायी जाती है।

आदि में 'स' के स्थान पर 'श' का साम्राज्य है। पूर्वी हिन्दी अवधी के ग्रन्थों में 'ष' मिलता है, पर उसका उच्चारण पश्चिमी हिन्दी के समान 'ख' होता है।

'ऋ' का उच्चारण पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी में 'रि' और मराठी में 'रु' होता है।

मराठी में तीन (पुल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुंसक) लिंग होते हैं। पश्चिमी हिन्दी की कतिपय बोलियों में भी ये तीन लिंग होते हैं।

डिंगल के प्राचीन ग्रन्थों में स्त्रीलिंग और पुल्लिग के अतिरिक्त नपुंसक लिंग के उदाहरण मिलते हैं।

ऊपर कहे अनुसार 'आ' कारान्त मराठी संज्ञापद का रूप एकवचन में भोजपुरी के समान, पर बहुवचन में पश्चिमी हिन्दी के समान होता है।

यथा :

एकवचन

घोड़ा (मराठी) —भोजपुरी—घोड़ा, खड़ी बोली—घोड़ा।

बहुवचन

घोड़े (मराठी) —भोजपुरी—घोड़न, खड़ी बोली—घोड़े और पूर्वी हिन्दी—घोड़न्ह।

मराठी सम्बन्धवाचक सर्वनामों का पश्चिमी हिन्दी के समान एकवचन में ओ से अन्त होता है, पर बहुवचन में वे पूर्वी हिन्दी का, भोजपुरी का अनुकरण करते हैं। यथा—

एकवचन

मराठी—जो——पश्चिमी हिन्दी—जो—पूर्वी हिन्दी—जे भोजपुरी—जवन।

बहुवचन

मराठी–जे—पश्चिमी हिन्दी–जो—पूर्वी हिन्दी–जे—भोजपुरी—जवन।

मराठी में मागधी से उद्धृत, बिहारी, बंगला आदि भाषाओं का भूतकालीन 'ल' प्रत्यय पाया जाता है।

मराठी (भूतकाल)	भोजपुरी (भूतकाल)
गेला	गइल

मराठी में कैसा, ऐसा, जैसे, तैसे पश्चिमी हिन्दी (खड़ीबोली) के समान ही प्रयुक्त होते हैं।

जेष्ठ कनिष्ठ दोन्ही भाया। आणि संसार ही आवरी तुक्या ।।
ऐसी स्थिति देखोनिया, माता पिता सन्तोष। (महाराष्ट्र सारस्वत,पृष्ठ ३६५)
सावकार, पिशुन आणि खल। गुहासी पातले जैसे काल। (वही, ३६५)
जैसा कां जागृतीचा पोला।
स्वपनहि तैसेंच दिले गेला। (वही, पृष्ठ ३७०)
देखिले रूप जैसे तेचि पाविजे तैसे (वही, पृष्ठ ३८५)
आमची प्रतिज्ञा ऐसीं, कांहीं न मागावे शिष्यांसी (वही, पृष्ठ ४१६)

पूर्व में बोली जाने वाली आधुनिक खड़ी बोली की प्रवृत्ति के अनुसार मराठी में 'खावें', 'जावें' का प्रयोग मिलता है।

मराठी में प्रश्नवाचक सर्वनाम काय (क्या, क्यों) पश्चिमी हिन्दी की बुन्देली बोली के समान-काय ही है। यथा—

मराठी	बुन्देली
काय रे, कसा बसला आहे ?	काय रे, कैसो बैठो है।
	खड़ी बोली
	क्यों रे, कैसा बैठा है ?

इसी प्रकार मराठी आपण पश्चिमी हिन्दी बुन्देली के अपन सदृश है।

यथा—मराठी—चला आपण चलू।
बुन्देली—चलो अपन चलें।

मराठी में राजस्थानी के 'न' के स्थान में 'ण' की बहुलता है। राजस्थानी में मराठी की 'ल' ध्वनि के होने की चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

खड़ी बोली की एकवचन भूतकालिक क्रिया मराठी में—होता और बुन्देली में—हतो हो जाती है। और बहुवचन में क्रमशः थे, होते और हते रूप धारण कर लेती है। यथा—

एकवचन

राम जात होता (मराठी) राम जात हतो (बुन्देली)

बहुवचन

मुलगे जात होते (मराठी) मोड़ा जात हते (बुन्देली)

इस संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि एक ही परिवार की भाषाएँ विस्तृत नदियों, उच्च पहाड़ों और दुर्गम बनों को लांघती हुई किस

प्रकार उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम की बहनों से निकटतर सम्बन्ध स्थापित करती रहती हैं। भाषाशास्त्री जब उनका कुल, धर्म, स्थान आदि खोजने लगते हैं, तब यह कठिनता से निर्णय कर पाते हैं कि अमुक भाषा कहाँ से आयी है—उत्तर से आयी है, पूर्व से आयी है, पश्चिम से आयी है या दक्षिण से आयी है ?

● ●

अर्थ-विज्ञान

शब्द की महिमा दर्शन, साहित्य, व्याकरण आदि शास्त्रों में बहुत प्रकार से वर्णित है। शब्द को विष्णुपुराण में विष्णु का अंश कहा गया है। महा-भाष्यकार ने शब्द के महात्म्य का उल्लेख करते हुए कहा है—'एक शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति। (एक ही शब्द का यदि सम्यक् ज्ञान हो जाय और उसका अच्छा प्रयोग हो सके तो वह स्वर्ग और इस लोक में अभिमत फलदाता सिद्ध हो सकता है)। हमारे यहाँ लोकोक्ति है बातन हाथी पाइए, बातन हाथी पाव। (यदि हमारी वाणी अर्थात् शब्द सुष्टु है तो हमें हाथी की प्राप्ति हो सकती है और यदि वाणी असुष्टु है तो हम हाथी के पैरों के तले भी फेंके जा सकते हैं। शब्द की तरह-तरह से व्याख्या की गयी है। महाभाष्यकार ने लोक में पदार्थ प्रतीति कराने वाली ध्वनि को शब्द कहा है और पदार्थ की प्रतीति अर्थ से होती है। शब्द के उच्चारण से श्रोता उसका एक ही अर्थ ग्रहण करता है, यह बात नहीं है। श्रोता अपने संस्कार के अनुसार उसका सहज और वक्र अर्थ ग्रहण करता है और हो सकता है वह उसका कुछ भी अर्थ ग्रहण न करे। इसे समझने के लिए हम एक कथा का उदाहरण देते हैं। एक बार एक गुरु ने जो रसोई बनाने की तैयारी कर रहे थे, अपने शिष्य से कहा, 'वत्स सैंधव आनय।' शिष्य तुरन्त बाहर गया और आश्रम के घोड़े को ले आया। गुरु जी शिष्य की मूर्खता पर झल्ला उठे, 'अरे मूर्ख, सैंधव का अर्थ घोड़ा ही नहीं नमक भी होता है।' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, पर उनका निश्चित अर्थ प्रसंगानुसार ग्रहण किया जाता है। इसी से कहा है कि शब्द नित्य है पर उसका अर्थ नित्य नहीं है। यों कुछ दार्शनिक शब्द की नित्यता में विश्वास नहीं करते, पर शब्द की मानसिक स्थिति को स्वीकारना पड़ता है। शब्द तो सैलानी होते हैं। वे जहाँ भी जाते हैं, जिस समाज में प्रविष्ट होते हैं उसकी प्रवृत्ति के अनुसार अपना अर्थ देने लगते हैं। उदाहरणार्थ फारमी में हिन्द सिन्धु नदी के सन्निकट प्रदेश को कहा जाता था, पर जब ईरानियों को भारतीयों के प्रति व्युत्सित भाव हो गया तो 'हिन्द'

का अर्थ—डाकू, चोर आदि समझा जाने लगा। पाकिस्तान के प्रति हमारी विरोध भावना होने के कारण हम उसे देश-विशेष के अर्थ में ही नहीं तिरस्कार सूचक अर्थ में भी प्रयुक्त कर देते हैं, शब्द में तिरस्कार-भाव भरे, "जनाब पाकिस्तान गये हुए हैं" का अर्थ मजाक में दीर्घशंका निवारण हो गया है। अंग्रेजों ने 'नेटिव' शब्द में भारतीयों के प्रति हीनता का भाव भर दिया था। साहित्याचार्यों ने अर्थ की दृष्टि से शब्द की तीन शक्तियाँ मानी हैं। वे हैं अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। अभिधा का व्यापार मुख्यार्थ तक सीमित रहता है। शब्द के कई प्रयोग होते हैं पर वक्ता का अभिप्रेत (मुख्यार्थ) क्या है इसे संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोधिता, लिंग, प्रकरण, सन्निधि, सामर्थ्य औचित्य, देश, काल, व्यक्ति आदि चौदह आधारों से जाना जा सकता है। जब शब्द का मुख्यार्थ बाधित हो जाता है तब रुढ़ि अथवा प्रयोजन से जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्धित अन्य अर्थ द्योतित होता है उसे शब्द की लक्षणा और जब इन दोनों शक्तियों से भी शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं होता तो उसकी तीसरी शक्ति व्यंजना का सहारा लेना पड़ता है। आज नयी कविता के कवि शब्दों के प्रचलित अर्थ से सन्तुष्ट नहीं हैं। वे उनमें नये अर्थ भरने का प्रयत्न कर रहे हैं, क्योंकि उनका कहना है कि शब्दों के अर्थ रुढ़ हो गये हैं, जो उनके भावों को व्यक्त करने में असमर्थ हैं।

शब्दार्थ पर दर्शन, व्याकरण और साहित्य के अतिरिक्त भाषा-विज्ञान में भी विचार किया जाता है। क्योंकि भाषा के अंग, ध्वनि, शब्द, वाक्य और अर्थ हैं, अतः भाषा-विज्ञानियों ने नसके प्रत्येक अंग पर पृथक्-पृथक् विचार किया है। भाषा-विज्ञान में सार्थक शब्दों पर ही विचार किया जाता है शब्दों के अर्थ की विवेचना करने वाले शास्त्र का कोई एकनाम रुढ़ नहीं हो पाया। अंग्रेजी में इसे सेमेन्तिक्स, सेस्मोलाजी कहते हैं। हिन्दी में अर्थ विचार, अर्थ-विज्ञान, शब्दार्थ-विचार आदि शब्द प्रचलित हैं। शब्दार्थ-विचार के अन्तगर्त शब्द का किसी भाषा विशेष में कब, किस रूप में किस अर्थ में प्रचलन हुआ, किसी विशेष अर्थ का उससे किस शक्ति द्वारा बोध हुआ, आदि विषय आते हैं।

शब्दों के अर्थ देश-काल और भाषा सापेक्ष होते हैं। अभिप्राय का उत्तर-भारत की परिनिष्ठित हिन्दी में आशय अर्थ होता है, पर दक्षिण की मराठी भाषा में सम्मति होता है। इसी प्रकार रिसर्च के लिए हिन्दी मे शोध, अनुसन्धान, खोज शब्द प्रचलित हैं, और मराठी में संशोधन। हिन्दी में

संशोधन का अर्थ शोध नहीं, सुधार होता है। संस्कृत का घर्म शब्द का हिन्दी रूप घाम है, जो बंगला में भी प्रचलित है, पर अर्थ में अन्तर है। हिन्दी में उसका अर्थ धूप और बंगला में पसीना है। उपन्यास हिन्दी में नावेल और तेलगू में व्याख्यान का अर्थ देता है। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जाते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि शब्द का अर्थ भाषा, देश और काल के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। जिस प्रकार मनुष्य का जन्म, विकास, ह्रास, मरण आदि प्रकृति-सिद्ध है उसी प्रकार शब्द और उसके अर्थ भी उत्कर्ष, अपकर्ष और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। मनुष्य की आदिमावस्था में उन्हीं पदार्थों ने शब्द-रूप धारण किया था, जो इन्द्रियगम्य थे। इसलिए पहले क्रिया वाचक और पदार्थ वाचक शब्द निर्मित हुए जो भिन्न-भिन्न भाषा और परिवारों में भिन्न थे-- रूप में और अर्थ में भी सीमित थे। सभ्यता के विकास के साथ भाषा में शब्दों का भाण्डार बढ़ा। जो समाज जितना अधिक सभ्य हुआ, उसकी शब्द-सम्पदा उतनी ही अधिक समृद्ध हुई। शब्द जब वाक्य में प्रयुक्त होते हैं तब वे अभिप्रेत अर्थ का बोध कराते हैं। मनुष्य की चिन्तन शक्ति की वृद्धि के साथ-साथ शब्दों की प्रकाशन क्षमता भी बढ़ती जाती है।

शब्दार्थ अध्ययन की दो प्रणालियाँ हैं—(१) वर्णनात्मक और (२) ऐतिहासिक। वर्णनात्मक प्रणाली में किसी एक भाषा के शब्दों के अर्थ के विकास उत्कर्ष-अपकर्ष आदि की विवेचना होती है। वर्णनात्मक भाषा विज्ञान की ही एक शाखा तुलनात्मक भाषा विज्ञान है। इसमें दो भाषाओं के शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। संस्कृत का मुग्ध शब्द जिसका अर्थ सुन्दर और मूर्ख भी होता था हिन्दी में मोहने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। उसका संस्कृत का दूसरा अर्थ मूर्ख लुप्त हो गया।

ऐतिहासिक अर्थ विज्ञान में एक भाषा के शब्द के अर्थ-विकास का ऐतिहासिक विवेचन होता है। बंगला का मेमे शब्द माई का अर्थ-सूचक था। बाद में उसका अर्थ लड़की और स्त्री हो गया। कहीं मेमे का अर्थ पत्नी भी हो गया है।

अर्थ-विकास के मुख्य कारणों में जाति-विशेष की सभ्यता, संस्कृति राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि परिस्थितियाँ परिगणित होत हैं। भाषा-विज्ञानियों ने परिवर्तन का मुख्य आधार मनोवैज्ञानिक ही माना है। उन्होंने उसके तीस से अधिक कारण बताये हैं। उनमें से कुछ के उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

(१) बल का अपसरण—गोस्वामी—पहले गाय के मालिक का बोधक था, अब वह महात्मा का अर्थ देता है—गोस्वामी तुलसीदास।

(२) विभाषा से शब्द-ग्रहण—'क्लाक' दीवाल घड़ी, गुजराती में क्लाक का अर्थ घंटा हो गया।

(३) सामाजिक मान्यता—भाई, बहिन शब्द सगे भाई बहिन के लिए ही नहीं किसी भी पुरुष-स्त्री के सम्बोधन का अर्थ देने लगा।

(४) शिष्टता प्रदर्शन—किसी सम्भ्रान्त के घर जाने को कहें—आपके दौलतखाने पर हाजिर हूँगा।

(५) पीढ़ी परिवर्तन—पत्र पहले भुपत्र के लिए प्रयुक्त होता था अब चिट्ठी का अर्थ देता है।

(६) अलंकृत प्रयोग—कौआ (चालाक), गधा (मूर्ख)

(७) अशोभन कथन करना—दूकान बन्द करनान कहकर दूकान बढ़ाना कहा जाता है। मरना न कहकर स्वर्गवास होना कहा जाता है।

शब्दों का अधिक प्रयोग

पंडित, गुरू—ये शब्द अति प्रचलित होने से अपना गौरवपूर्ण अर्थ खो बैठे।

भावावेश

भावावेश में हम कभी किसी को बुरा कार्य करते देख कह उठते हैं—राम-राम इसने यह क्या कर डाला। इसमें राम-राम भगवान का अर्थ नहीं देता।

भैया तुमने मेरी बीमारी में कितनी सेवा की :.

नये आविष्कार

'पेन' पंख से बनी वस्तु को कहते हैं। बाद में लोहे से बनी कलम भी 'पेन' कहलाने लगी। स्याही का अर्थ काला रंग था, पर अब लाल, नीली, हरे रंग के लेखन पदार्थ भी स्याही कहलाने लगे।

व्यंग्य

व्यंग्य में भी शब्दों के अर्थ परिवर्तित हो जाते हैं। 'वाह गुरू' आप तो पूरे महात्मा निकले। यहाँ गुरू और महात्मा हीन अर्थ बोधक हैं।

अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ

(१) अर्थ-विस्तार—सीमित अर्थ जब विस्तृत-अर्थ देने लगता है-तेल पहले तिल का अर्थ था अब मूँगफली, सरसों, मिट्टी सभी से प्राप्त तरल पदार्थ तेल कहलाने लगा।

(२) अर्थ-संकोच—मृग सामान्य पशु वाचक अब पशु-विशेष बन गया। सर्प—मारने वाला प्राणी अब साँप बन कर रह गया। इसी प्रकार गो।

(३) अभोत्कर्ष—साहस का अर्थ हत्या था। अब उसे अर्थ-गौरव प्राप्त हो गया। इंडियन अब सम्भ्रान्त बन गया।

अर्थापकर्ष

पंडित, महात्मा, गुरु, आदि शब्दों का व्यंग्य में अर्थापकर्ष हो गया है।

अर्थादेश

जब प्रधान अर्थ के साथ गौण अर्थ भी प्रचलित हो जाता है तब अर्थादेश कहते हैं— दुहितृ—दुहने वाला से कन्या का अर्थ भी देने लगा। मारवाण (सम्प्रदाय विशेष) का नाप अब खोग का अर्थ देने लगा।

अर्थामदेश

अशुध, अश्लील कार्य, भयंकर घटना आदि के शेम अर्थ सूचक शब्दों में प्रकट करने को अर्थामदेश कहते हैं। मरना न कह कर स्वर्गवासी होना। साँप सूँघ गया, रैदास, हरिजन, ठाकुर, जमादार आदि इसके उदाहरण हैं।

काव्य में शब्द-प्रयोग में अर्थ परिवर्तन बहुधा होता है। लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि के अनेक उदाहरणों में यह परिवर्तन लक्षित होता है।

शब्द के अर्थ परिवर्तन में कुछ बौद्धिक नियम होते हैं, जो इस प्रकार हैं।

एक विशेष भाव का नियम—जब एक अर्थ को प्रकट करने के लिए पर्यायों का प्रचलन हो जाता है तब अर्थ-विधान में कठिनाई अनुभव होने लगती है। अतः धीरे-धीरे व्यक्ति शब्द में विशेष अर्थ भरने लगते हैं। यथा-जल, के ही पर्याय पानी, जीवन, उदक आदि शब्द हैं। पर धीरे-धीरे इन शब्दों का विशिष्ट भाव ग्रहण किया जाने लगा। जल से पवित्रता का भाव जैसे गंगाजल, पानी सामान्य अर्थ का द्योतक समुद्र का पानी हो गया।

भेदीकरण का नियम

एक अर्थ को प्रकट करने के लिए जब कई शब्द प्रचलित हो जाते हैं तो उनके अर्थ में भेद करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। डाक्टर, हकीम,

वैद्यर नोंज तीका ही अर्थ चिकित्सक है, परन्तु समाज ने उनमें भेद कर अर्थ की स्पष्टता ला दी है। वैद्य आयुवेद चिकित्सक, हकीम यूनानी चिकित्सक और डाक्टर एलोपेथी चिकित्सक समझे जाने लगे। इसी प्रकार मकतव, पाठशाला, स्कूल, कालेज के अर्थ भी भेदीकरण नियम के अनुमार भिन्न हो गये।

उद्योतन का नियम

उद्योतन का अर्थ चमक है। जब किसी शब्द का अर्थ-विशेष रूप से चमक उठता है तब वहाँ उद्योतन का नियम कार्य करता है। ई प्रत्यय से संज्ञा विशेषण का रूप धारण कर लेती है। यथा, अमीर से अमीरी, गरीब से गरीबी आदि। वह तो अमीरी दिखाता है। वह गरीबी में भी महान है आदि में विशेष अर्थ उदित हो गया है।

विभक्तियों के भग्नावशेष के नियम में लुप्त विभक्तियाँ

मनुष्यों के मन में रहने के कारण शब्दों के साथ जुड़ कर अर्थ देने लगती हैं। यथा, 'कुंज कुटीरे यमुना तीरे तू दिखता यदुवंशी'—भारतीय आत्मा हिन्दी में आधुनिक कवि संस्कृत की सप्तमी विभक्ति का अधिक प्रयोग कर रहे हैं।

मिथ्या प्रतीति का नियम

इसे अज्ञान का नियम भी कह सकते हैं। यथा, हिमाचल पर्वत, विन्ध्याचल पर्वत, दरअसल में आदि।

साहश्य का नियम

सादृश्य के आधार पर नये शब्द गढ़ लिये जाते हैं और उनमें नया अर्थ भर दिया जाता है। पौरुवात पश्चात्य के आधार पर ही प्रचलित हो गया।

नये लाभ का नियम

काल की गति प्रवाहमान होती रहती है। उसी के साथ सृष्टि के प्रत्येक व्यापार परिवर्तित होते रहते हैं। शब्दों की दुनिया में सृष्टि का नियम लागू होता है। कालानुसार नये शब्द नये रूप और नये अर्थ को ले कर समाज में चल पड़ते हैं। इसे ही नये लाभ का नियम कहते हैं। भाषा-विज्ञानियों ने अव्ययकृदन्त, कर्मवाच्य, क्रिया विशेषण को नये लाभ का कारण बतलाया है। प्रति उपसर्ग (प्रतिकार, प्रतिगामी) आदि था पर बाद में सम्बन्धसूचक अव्यय के रूप में प्रयुक्त होने लगा, (मन्दिरं प्रति गच्छ)।

अनुपयोगी शब्दों की समाप्ति का नियम

जब शब्द प्रयुक्त नहीं होते तब वे अधिक-से-अधिक कोश में ही रह जाते हैं। वैदिककाल में स्पर्श और दृश्य दो धातुएँ एक ही अर्थ में प्रचलित थीं बाद में दोनों एक हो गयीं। पश्य आदेश मानी गयी। वैदिक काल से वर्तमान काल तक आर्य-भाषाओं की क्रियाओं का बहुत अधिक विनाश हुआ है। हिन्दी में लृ लॄ ॠ वर्णों का विनाश हो गया है। धीरे-धीरे मूर्धन्य 'ष' केवल पुस्तकों में ही शेष है।

● ●

उराँवों के रीति-रिवाज और उनकी भाषा

मध्यप्रदेश के दक्षिण पूर्वी भाग—जशपुर और सरगुजा-क्षेत्र में आदिवासी उराँव की संख्या सबसे अधिक है। इनकी मूल भाषा कभी निष्तद-भाषा-परिवार की एक शाखा अवश्य रही है, पर द्राविड़-सम्पर्क के कारण इन्होने उन्हीं की भाषा अपना ली है। अतः आज ये जो भाषा (बोली) बोलते है वह द्रविड़-भाषा-परिवार की एक उपशाखा है, जो उराँव या कुरुख कहलाती है। इनकी यह बोली, जिन प्रान्तवासियों के सम्पर्क में ये आ रहे हैं, उनकी भाषा से प्रभावित होती जा रही है। इस क्षेत्र के उराँवों की भाषा में छत्तीसगढ़ी का पुट स्वाभावतः आ गया है। इस लेख का उद्देश्य उराँव-बोली की विवेचना न हो कर उराँव जाति के रीति रिवाजों पर प्रकाश डालना है।

जिस प्रकार विभिन्न जातियों के सम्पर्क के कारण जाति-विशेष की भाषा परिवर्तित हो जाती है, उसी प्रकार इस जाति के संस्कारों में—रीति-रिवाजों में नागर सम्पर्क के कारण थोड़ा बहुत परिवर्तन आ गया है। अतएव, इनके उत्सव आदि सर्वथा मूल रूप में प्रचलित हैं, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु, जिस रूप में वे आज मनाये जाते हैं, उसी का यहाँ सिंहावलोकन कराया जाता है।

१. करमा—यह विजयादशमी के समय मनाया जाने वाला प्रसिद्ध त्योहार है। दशहरे के एक दिन पूर्व से उराँव-परिवार में उत्सव का उत्साह छा जाता है। दशहरे के प्रातः काल से परिवार की कुमारिकाएँ उपवास करती हैं। दिनभर मुख में अन्न का एक कण भी नहीं जाता। सूरज डूबते ही वे सब मिल कर नया टोकना हाथ में लेती हैं और नदी पहुँचती हैं, नहाती हैं, गीला कपड़ा पहिने हुए ही फूल तोड़ती हैं और लोकगीत गाती हुई घर लौटती हैं। घर पहुँचकर नूतन वस्त्र पहनती हैं और उसके बाद रात्रि के प्रथम प्रहर में निकटवर्ती बन में जा कर करमा नामक झाड़ को काटती हैं। इस समय कुमारियों के साथ किशोर भी बाजे-गाजे के साथ जाते हैं। ग्राम और उपवन के बीच की यात्रा शान्तिपूर्ण होती है। कुमारियों के कण्ठों से न तो गान झरता

है और न साथी किशोरों के बाजे पर ही कोई धुन सुनाई पड़ती है। जब टोली करमा-झाड के पास पहुँच जाती है, तब सभी झाड़ में सात बार सूत लपेटते हैं। उपासी किशोरियाँ वृक्ष को नतमस्तक हो प्रणाम करती हैं और फिर एक लड़का फुरती से झाड़ पर चढ़ जाता है और एक साँस में एक डाल के हिसाब से साते डालें काटता है और नीचे उतर जाता है। किशोरियाँ एक-एक डाल ले लेती हैं तथा कतार बना कर घर की ओर लौटती हैं। परन्तु, सीधे घर न जाकर गाँव के विशिष्ट झंडे के पास जाती हैं और उसे साथ ले कर निश्चित मैदान (अखाड़े) में पहुँचती हैं। वहीं करमा झाड़ की डालें गाड़ती हैं और झंडा भी। झंडे के सात चक्कर लगाने के उपरान्त सभी किशोरियाँ अपने घर चली जाती हैं। घर से प्रत्येक किशोरी पूजा की डाली लाती हैं, जिनमें फूल, हल्दी, पत्ती, सूत ककड़ी, रोटी, चावल, आटा, दत्तोन आदि भरे रहते हैं। फिर, गाँव का मुखिया मैदान में आता है और पूजा प्रारम्भ होती है। पूजा की सामग्री करमा की डालियों को समर्पित की जाती है। गाँव का मुखिया विशिष्ट कहानी सुनाता है, जिसे सुनने के बाद ऊपासी किशोरियाँ करमा को प्रणाम करती हैं, उसकी सात बार परिक्रमा करती हैं और बैठकर कुछ देर गाती रहती हैं। अन्त में अपने घर चली जाती हैं, जहाँ वे उड़द की रोटी खा कर अपना उपवास तोड़ती हैं। पुरुष शराब पीते हैं, स्त्रियाँ भी पीती हैं, पर उपासी लड़कियाँ नहीं पीतीं। करमा-गड़े हुए मैदान में, जो अखाड़ा कहलाता है, रातभर नाच होता है, जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों भाग लेते हैं। प्रातः नर्तक करमा की डालों को उखाड़ लेते हैं और गाँव में प्रत्येक के घर जाते हैं। घर का मालिक करमा की पूजा करता है, उसे शराब या पानी से धोता भी है। पूजा के समय जो कुछ भी समान वह लाता है, नर्तकों को दे देता है। इस प्रकार, सारे गाँव की फेरी लगाने के उपरान्त नर्तकों की टोली नदी चली जाती है। वहाँ पूरब की ओर मुँह कर के करमा की डाले नदी में प्रवाहित कर दी जाती हैं। स्नान करने के पश्चात् स्त्री-पुरुष गाँव से प्राप्त खाद्य-सामग्री वहीं बैठकर खाते हैं। उपासी लड़कियाँ केवल चावल खाती हैं। दोपहर तक घर लौटने पर परिवार भर में शराब का दौर चलता रहता है। यह त्योहार दो-तीन दिन तक मनाया जाता है। यह इनका मुख्य उत्सव है।

२. सोहराई—यह दीपावली का जगमगाता त्योहार है। संध्या को प्रत्येक उराँव के घर में दीपक जलाये जाते हैं। रात भींगने पर भैंस की पूजा

की जाती है। जादू-टोना वाले मान्त्रिक रात भर मंत्र जप करते हैं। दूसरे दिन गाय-बैल की पूजा अर्चा होती है। गायों के खुरों को अपने प्रिय पेय शराब से धोते हैं। उन्हें चावल के लड्डू, उड़द, कुम्हड़ा, लौकी आदि बड़े प्रेम से खिलाते हैं। यह मौज का त्योहार है और परिवार के व्यक्ति परस्पर दूसरे के यहाँ उत्साह से खाते-पीते हैं।

३. सरहुल—यह चैत के महीने में पड़ता है। खेतों में खाद डालने के पूर्व यह मनाया जाता है। इसका कोई दिन निश्चित नहीं होता। किसी भी दिन पुजहर (बैगा) की सम्मति से मना लिया जाता है। उस दिन पुजहर (बैगा) निर्जल उपवास करता है। ग्रामवासी दोपहर को गाँव के निकट 'सरई' झाड़ की पूजा करते हैं। उसके आस-पास के किसी भी वृक्ष को कोई नहीं काट सकता। केवल सरई के झाड़ में दो लम्बे चाकू गाड़ दिये जाते। ग्राम-वासी प्रत्येक घर से एक-एक मुर्गी माँग कर लाते हैं। स्नानोपरान्त बैगा वृक्ष की पूजा करता है और चारों दिशाओं में मुर्गियों की बलि चढ़ाता है। उसके पश्चात् ग्राम-देवताओं की पूजा प्रारम्भ होती है। एक मुर्गी 'पाट' के नाम पर चढ़ायी जाती है (गाँव का रक्षक भूत 'पाट' कहलाता है) और एक मुर्गी ग्राम-देवी के नाम पर चढ़ायी जाती है। पूजा के पश्चात् घर से लायी गयी शराब के दौर प्रारम्भ होते हैं। पूजा-स्थल पर जल से भरे हुये आठ घट रखे जाते हैं, जिनमें फूल भी डाले जाते हैं। इन घड़ों का पानी गाँव के प्रत्येक घर में बाँटा जाता है। पूजा आदि हो जाने के पश्चात बैगा को कन्धों पर बैठा कर घर ले जाया जाता है। वह प्रत्येक के घर जाता है। घर वाले उसके पैर धोते हैं, उसका आदर सत्कार करते हैं। रात को गाँव के मैदान में, जो अखाड़ा कह-लाता है, लाठी ले कर लोग जमा होते हैं। रात-भर सरहुल-नृत्य होता है; जिसमें बाजा नहीं बजाया जाता। ग्रामदेवता को प्रसन्न करना ही इस नृत्य आयोजन का उद्देश्य है।

उराँव हिन्दुओं के समान होली, नागपंचमी आदि त्योहार भी मनाते है। होली से दो दिन पूर्व जंगल से शिकार मार कर लाते हैं और होली के दिन ही उसे राँध कर खाते हैं। एक विशेष बात यह है कि ये होली के समय कबीर या गाली आदि नहीं गाते और न किसी प्रकार का अश्लील प्रदर्शन ही करते हैं।

विवाह—इस जाति में बाल-विवाह की प्रथा नहीं है। चौदह वर्ष की अवस्था के पश्चात ही विवाह किया जाता है। माता-पिता की इच्छा से

सामान्यत: विवाह होता है। विवाह के पूर्व वर-पक्ष के लोग लड़की देखने जाते हैं और जब लड़की पसन्द आ जाती है, तब कन्या-पक्ष के लोग वर-पक्ष के यहाँ भोजन करने जाते हैं। यह प्रथा 'घबरी' कहलाती है। विवाह की तिथि निश्चित होने पर मंडप बनाया जाता है और वर-पक्ष वाले बरात ले जाते हैं, जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों सम्मिलित रहते हैं। कन्या-पक्ष से दहेज लेने की प्रथा भी प्रचलित है। विवाह के समय ब्राह्मण नहीं बुलाये जाते। आपस में ही कोई उराँव पुरोहित का कार्य कर देता है। इस जाति में नैतिकता का सख्ती से पालन होता है। गाँव भर के तरुण लड़के और लड़कियाँ एक पृथक मकान में होते हैं। यह प्रथा 'घुटरु' कहलाती है। यदि किसी लड़के-लड़की में प्रेम हो जाता है, तो उनका विवाह कर दिया जाता है, परन्तु लड़के से 'दण्ड' वसूल किया जाता है। यदि वह विवाह करने पर सहमत न हो, तो समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है। विधवा विवाह वैध है। पुरुष को समाज सामान्य रूप से दो विवाह करने की अनुमति देता है। विवाहित स्त्रियों में अनैतिक सम्बन्ध को अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा जाता है। इस जाति में हत्या के बहुत से काण्ड इसी कारण होते हैं।

इस जाति का आहार चावल, कुटकी, कोदों आदि धान्य के अतिरिक्त मछली, सुअर आदि पशुओं का मांस भी है। परन्तु, ये गाय के मांस का स्पर्श नहीं करते। मृतक-संस्कारों पर हिन्दू संस्कारों का बहुत प्रभाव है, पर शव को अधिकतर गाड़ा ही जाता है। शव-यात्रा बाजे-गाजे के साथ होती है।

यद्यपि इनके मुख्य देवता बूढ़ा देव हैं (प्रत्येक घर में एक त्रिसूल गड़ा होता है, जो इस देव का प्रतीक है; कहीं-कहीं त्रिशूल के स्थान पर लकड़ी की खूँटी ही गाड़ ली जाती है), फिर भी हिन्दू-देवी देवताओं के प्रति इनकी आस्था है। ये राम-कृष्ण को मानते हैं और मन्दिरों में भी जाते हैं। बहुत-से उराँव विदेशी मिशनरियों के प्रचार के कारण ईसाई बन गये हैं। अतः, धीरे-धीरे इनके आदिम रीति-रिवाज आधुनिक रंग में रँगते जा रहे हैं। नृतत्व-विज्ञानियों को इनके सम्बन्ध में अध्ययन करने के लिए वनों में स्थित ग्रामों में ही जाना चाहिये। तभी शुद्ध शोध-सामग्री प्राप्त हो सकती है।

भाषा

इसे कुरुख भी कहते हैं। इसे बोलने वालों की संख्या ग्यारह लाख के ऊपर है। इस पर तमिल भाषा का अधिक प्रभाव है। पर यह निषाद-परिवार की अन्तयोगात्मक भाषा है। खद्दस (लड़का)—दद्दर (लड़के)। इसमें संस्कृत की

भाँति तीन पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग होते हैं। मनुष्य जाति के लिंग के अनुसार पुलिंग और स्त्रीलिंग तथा शेष के लिए नपुंसक लिंग का प्रयोग होता है। पुलिंग संज्ञा शब्दों के अन्त में स और स्त्रीलिंग संज्ञा शब्दों के अन्त में य अथवा ई लगा रहता है। जैसे कुक्कोस (बालक) तुलना कीजिए खोका बंगला, काका-पंजाबी का। बंगला और पंजाबी में यह शब्द उराँव या मुंडा प्रभाव है। आलि, स्त्री, यह शब्द भी संस्कृत में इसी बोली से गृहीत प्रतीत होता है। जिस, प्रकार पंजाब में महिलाओं को सम्मानित करने की दृष्टि से पुल्लिग का वाचक सम्बोधन होता है उसी प्रकार उराँव में भी होता है। पुरुष से सम्भाषण के समय स्त्री भी पुरुष वाचक बन जाती है। स्त्री से सम्भाष्य करते समय अपना अस्तित्व कायम रखती है याने स्त्रीलिंग बनी रहती है। पर यथा स्त्री से कहेंगी एन एकेन (मैं चलती हूँ), परन्तु पुरुष से कहेगी एन एकदन (मैं चलता हूँ)। वचन दो एकवचन और बहुवचन होते हैं। एकवचन-पुल्लिग शब्दों के अन्तिम अक्षर स को 'र' कर देने से बहुवचन बन जाता है, यथा, कुक्कोस (लड़का), कुक्कोर (लड़के) तमिल में अर, कन्नड़ में अरु और तेलुगु में 'आर' लगाने मे बहुवचन बन जाता है। स्त्रीलिंग शब्दों मे शब्दान्त के दीर्घ स्वर के स्थान पर र जोड़ना पड़ता है। यथा, कुकोय से कुकोयर। नपुंसक लिंग में बहुवचन बनाने के लिए गुट्ठी शब्द जोड़ना पड़ता है। किन्तु पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग में नहीं। कारक हिन्दी के अनुसार होते हैं। सर्वनाम 'आय' (वह) ईद (यह) उत्तम पुरुष सर्वनाम को श्रोता को छोड़ कर एक रूप और श्रोता को सम्मिलित कर दूसरा रूप होता है।

एम (हम) नाम हम (श्रोता सहित) मध्यप्रदेश के अधिकांश भाग में भी यही स्थिति है। हम या मैं—वक्ता का स्वतन्त्र रूप।

अपन···वक्ता और श्रोता का सम्मिलित रूप, उदाहरण हम जायेगें (इसमें श्रोता ही जायगा) अपन जायेगें (इसमें वक्ता और श्रोता दोनों जायेगें)।

प्रश्नवाचक सर्वनाम 'ने' पुल्लिग और स्त्रीलि के लिए प्रयुक्त होता है। 'ने' जब विशेषण के समान प्रयुक्त होता है तो उसके स्थान पर 'एका' प्रयुक्त होता है—एका आलस वरचम (कौन पुरुष आया), ने वरचस कौन आया ?) संज्ञा अविकारी रूप में विशेषण बन जाती है यथा, कंक-एडपर=लकड़ी का घर, चंद्दो बिल्ली=चाँदनी रात। कृदनाधातु जुड़ कर भी विशेषण बना देती है। ओना आलो (पेय पदार्थ) विशेषण और उससे बनी भाववाचक संज्ञा में कोई-अन्तर नहीं होता—सन्नि=छोटा-छुटाई, पुना-नवीन, नवीनता। नवीन और

नवीनता के लिए एक ही शब्द प्रयोग होता है। संज्ञा, विशेषण और विशेषण का क्रिया के समान प्रयोग किया जाता है। मुण्डा भाषा की तरह इसमें भी ध्वन्यात्मक और गुणात्मक क्रिया विशेषणों का बाहुल्य है—यथा, जिलिवजिलि चपचपाना, जड़मजड़म-झमाझम बसना, मेरे झेर आ-मिमियाना या मारियल (दिखाना) क्रिया, क्रिया विशषण, संज्ञा सभी विस्मयादि बोधक अव्ययों की तरह प्रयुक्त होते हैं—या को-मूखै, आड़ि-भागो एर के-देखना। यह उराँव या कुरुख भाषा की ही प्रवृत्ति नहीं है। हिन्दी में भी यह दिखायी देती।[१]

● ●

रवीन्द्रनाथ और हिन्दी

सन् १९२४ या २५ की बात है। उन दिनों मैं हिन्दू विश्वविद्यालय का छात्र था। एक दिन सहसा सुन पड़ा, रवीन्द्रनाथ विश्वविद्यालय के उपाधि-वितरण समारोह में प्रमुख अतिथि के रूप में आ रहे हैं। हृदय आनन्दातिरेक से स्पन्दित हो उठा। समारोह-दिवस की प्रतिदिन प्रतीक्षा करने लगा। मेरे पडोस में श्री माधव (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद के भूतपूर्व संचालक) का कमरा था, जिसमें छात्रावास के दो-चार साहित्य-प्रेमी छात्र एकत्रित हो कर रवीन्द्र की 'गीताञ्जलि' के माधुर्य का रसपान किया करते थे। प्रसंगवश यह भी चर्चा छिड़ जाती कि 'गीताञ्जलि' के भावों पर कबीर के पदों की छाप स्पष्ट है। और इसका आधार यह था कि कवीन्द्र ने कबीर के पदों का अंग्रेजी में सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया जिसका विदेशों में भी स्वागत हुआ था। हिन्दी-जगत् में वर्षों यह प्रमाद फैला रहा। हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक भी यही प्रचार करते रहे। बाबू श्याम सुन्दर दास ने लिखा है—"बंगाल में वर्तमान कवीन्द्र रवीन्द्र को भी कबीर का ऋण स्वीकार करना पड़ेगा। अपने रहस्य-वाद का बीज उन्होंने कबीर में पाया, किन्तु उसमें पाश्चात्य भड़कीली पालिश भी की है। भारतीय रहस्यावाद को उन्होंने पाश्चात्य ढंग से संजोया है। इसी से यूरोप में उसकी इतनी प्रतिष्ठा हुई है।" सच बात तो यह है कि कबीर से परिचय प्राप्त करने के पूर्व ही उन्होंने अपनी रहस्य-भावना-सिक्त 'गीताञ्जलि' की रचना कर डाली थी। हाँ, तो कह रहा था, रवीन्द्र के काशी-आगमन की बात। चिर प्रतीक्षा के बाद वह दिन, वह क्षण भी आया, जब लम्बे चोगे में सफेद दाढ़ी और बाल वाले छरहरे गौर बदन कवि हर्ष निनाद के बीच मंच पर पधारे और हम सब के मस्तक श्रद्धा से नत हो गये। ऐसा लगा मानो किसी स्वर्ग-दूत का भूतल पर आगमन् हुआ है। उन्होंने नपे-तुले शब्दों में स्नातकों को उपदेश दिया। वे स्नातक आज जहाँ भी होगे अपने भाग्य को सराहते होगें, क्योंकि रोम्याँ रोला के शब्दों में 'किसी आत्मा में रचनात्मक कार्य की अग्नि जागृत करने को दूसरी आत्मा से आने वाली एक चिनगारी ही बहुत होती है।'

उस समय हमने यह कल्पना नहीं की थी कि भारत शीघ्र स्वाधीन होगा और इस विश्व कवि के एक गीत को राष्ट्रगीत के रूप में स्वीकार करेगा। फिर भी हम विश्वविद्यालय में पहुँच कर उनके सम्बन्ध में पाश्चात्य साहित्य-मर्मज्ञों के विचारों से अवगत हो यह जान चुके थे कि जो व्यक्ति आज हमारे बीच है उसका आतंक पाश्चात्य साहित्य-जगत में भी छाया है। यूरोप के महान से महान साहित्यिक ने उनको 'गीताञ्जलि' को 'सर्वथा नवीन और अपूर्व' घोषित किया। साधु एंड्रूज के वे संस्मरण स्मृति-पटल पर खिंच आये जिनमें उन्होंने लिखा था कि जब कवि इंग्लैंड में थे, प्रसिद्ध कलाकार राथेण्टिन के यहाँ एक रात विश्रुत कवि यीट्स ने कवि की कविताओं का प्रमुख साहित्यकारों के बीच पाठ किया था, जिसे सुन कर श्रोता-मण्डली झूम-झूम उठी थी और उनकी अनुभूति की तुलना शैली, कीट्स, वर्डसवर्थ आदि से की थी।

उस समय हिन्दी में छायावाद-रहस्यवाद का बोलवाला था। तरुण कवि अपने अटपटे गीतों में भी इसी भाव को ध्वनित करता था। हिन्दी के प्रतिष्ठित समीक्षक उन पर भिन्न-भिन्न रूपों से व्यंग-वर्षा करते थे। कहा जाता है—''यह तो रवीन्द्र की छाया है, 'बंगला की जूठन', 'आंग्ल रोमेण्टिक कवियों का प्रभाव है'। इन व्यंगाभिव्यक्तियों में कुछ तथ्य भी था। हिन्दी के मूर्धन्य कवि 'निराला' सुमित्रानन्द पन्त, प्रसाद आदि नये ढंग की कविता करने के लिए बहुत बदनाम थे। 'निराला' की तो शिक्षा-दीक्षा बंगाल में ही हुई थी और उन पर रवीन्द्र का रंग चढ़ा भी था। कानपुर से प्रकाशित होने वाली 'प्रभा' में सम्भवतः स्वं बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने 'निराला' की रचनाओं में 'कवीन्द्र' की भाव-छाया का उद्घाटन भी किया था। 'प्रसाद' और पन्त पर भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष 'रवीन्द्र' का प्रभाव दिखलायी देता है। 'निराला' ने अपने एक लेख में 'पन्त' और रवीन्द्रनाथ के भाव-साम्य पर चर्चा भी की थी। महादेवी की कविताओं में उपनिषदों की भावधारा के बीच रवीन्द्र की भाव-लहरियों की बिछलन भी देखी जा सकती है। यद्यपि हिन्दी में गद्यगीत गीतांञ्जलि के प्रकाश में आने के पूर्व ही लिखे जाने लगे थे, पर इसे मानने में कोई संकोच नहीं होना चाहिये कि उनके अत्यधिक प्रचलन में 'गीताञ्जलि' की प्रेरणा निश्चय थी। हिन्दी में कवि के स्वर्गवास के समय तक निम्न ग्रन्थ अनूदित हो चुके—आँख की किरकिरी, नटी-पूजा, मेरा बचपन, अचलायतन, आश्चर्य घटना, रवीन्द्र कविता-कानन, ईद का चाँद, रवीन्द्र कथा-कुंज, राजरानी, कुमुदिनी, राजर्षि, ग्रन्थ-गुच्छ (चार भाग), राजा और प्रजा, गीताञ्जलि, रूस की चिट्ठी, विचित्र वधू रहस्य, घर और बाहर, विचित्र

प्रबन्ध, चार अध्याय, व्यंग्य कौतुक, चिरकुमार सभा, शिक्षा कैसी हो ?, चित्रांगदा, षोडशी, जीवनस्मृति, समाज, डाकघर, विश्व-परिचय, प्राचीन साहित्य, स्वदेश, माली, साहित्य मुकुट, हास्य कौतुक व मुक्तधारा।

हिन्दी में आलोचना साहित्य पर कवि के 'साहित्य' और 'प्राचीन साहित्य' नामक ग्रन्थों का भी कम प्रभाव नहीं पड़ा। प्रभाववादी अलोचनाएँ उनसे अधिकांश में प्रभावित हैं। 'प्राचीन साहित्य' में कवि ने साहित्य-उपेक्षिताओं के प्रति जो करुण उद्गार प्रकट किये हैं उनसे अनुप्राणित हो, 'सरस्वती' सम्पादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य की उपेक्षिताएँ लेख लिख कर हिन्दी कवियों का ध्यान 'उर्मिला' की ओर विशेष रूप से आकर्षित किया था जिसका परिणाम मैथलीशरण गुप्त का 'साकेत' और स्व० बालकृष्ण शर्मा की 'उर्मिला' है।

हिन्दी के सम्बन्ध में गुरुदेव उदार विचार रखते थे। पं० बनारसी दास चतुर्वेदी जब तक कलकत्ते रहे हिन्दी-भाषियों को शान्ति-निकेतन की यात्राएँ कराते रहे। एक बार जब स्व० माखनलाल चतुर्वेदी और श्री जैनेन्द्र उनके पास पहुँचे तो उन्होंने उनसे कहा—"मैं चाहता हूँ हिन्दी के साहित्यिक हमारे साथ रहें। मैं हिन्दी को एक सजीव भाषा बनाना चाहता हूँ।" कवि हिन्दी पढ़ और लिख लेते थे और काम चलाऊ बोल भी लेते थे। जब महात्मा गाँधी के प्रयत्न से सौराष्ट्र में गुजराती साहित्य सम्मेलन हुआ था, तब कवीन्द्र को आमन्त्रित किया गया था और महात्मा जी के आग्रह से उन्होने 'बंगाली-हिन्दी' में भाषण भी दिया था। सन् १९१३ में जब कवि को विश्व साहित्य का 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त हुआ था तब हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठ कवि तथा लेखक स्व० पं० लोचन प्रसाद पाण्डेय ने उनका पत्र द्वारा अभिनन्दन किया था, जिसका उत्तर उन्होंने हिन्दी में ही दिया था। उसे श्री रामेश्वर गुरु ने 'धर्मयुग' के ६ अगस्त, १९६१ के अंक में प्रकाशित कराया है। वह इस प्रकार है :—

सहृदय महोदय,

यद्यपि ईश्वर की कृपा से हमको आज सम्मान प्राप्त हुई है तथापि हम अपने को सर्वविध सम्मान के अयोग्य ही समझते हैं। (विशेष यह भी है कि कवि को कोई सम्मान की आवश्यकता है भी नहीं)। हमारे परम देवता के चरण कंवल पर जो गीताञ्जलि हम अर्पण किये हैं उससे उतनी प्रसन्नता और हमारी अन्तर की प्रसन्नता ही से हमारा जीवन धन्य है पर आप ऐसे सज्जनों

की अभ्यर्थना के अयोग्य होने पर भी आपकी प्रसन्न कृपा प्राप्त कर हम निज को परम धन्य समझते हैं कितने कवि हो गये हैं, कितने मौजूद हैं, कितने आगे होने वाले हैं, पर आप लोगों की सप्रेम शुभकांक्षा दुर्लभ ही है। इतने दूर से इतनी प्रसन्नता और पवित्र-ग्रामबेली कुसुमोपहार प्राप्त हो कर हम यथार्थ धन्य हैं।

भगवान आपको नित्य कल्याण प्रेरणा किया करे और आनन्दामृत रस से नित्य तृप्त रखा करे।

शुक्ल चतुर्थी मार्गशीर्षया
संबत १९७०,
शान्तिनिकेतन

भवदीय
प्रीति-पत्र-सम्मानित
श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी से उन्होने एक बार हिन्दी की प्रशंसा करते हुए कहा था कि मुझ कृत्रिम और अलंकार-बोझिल रचनाएँ नहीं रुचती। 'बिहारी सतसइ' उन्हें रुचिकर नहीं प्रतीत हुई क्योंकि उसके कुछ दोहों के अनेक अर्थ निकलते हैं, जो विवादास्पद हैं। हिन्दी-मर्मी सन्त कवियों से भी वे क्षितिमोहन सेन के माध्यम से परिचित हो गये थे। हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन के लिए उन्होने सी०एफ०एन्ड्रूज के साथ शान्तिनिकेतन में हिन्दी-भवन की स्थापना की थी जहाँ डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वानों ने हिन्दी सन्त वांगमय का श्रेष्ठतम शोध-कार्य किया। गुरुदेव की इच्छा थी कि 'हिन्दी भवन' में हिन्दी के मूर्धन्य विद्वान् स्थायी रूप से ठोस साहित्य-कार्य करें। द्विवेदी जी के वहाँ से चले जाने के पश्चात् 'भवन' में डा० तोमर, श्री रामपूजन तिवारी, श्री मोहनलाल बाजपेयी आदि विद्वान् हिन्दी अध्यापन तथा साहित्य-निर्माण का कार्य कर रहे हैं।

● ●

प्राचीन भाषा-नाटक-संग्रह

आधुनिक आर्य-भाषाओं के नाटकों के आदि-स्रोत का निर्देश करने वाला यह विवेचनात्मक पच्चीस प्राचीन भाषा-नाटकों का संग्रह है। इन नाटकों की रंगभूमि मिथिला, नेपाल और असम क्षेत्र रही है और इनका रचना-काल १४वीं से १६वीं शताब्दी के मध्य है। इन नाटकों का संग्रह हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान श्री जगदीशचन्द्र माथुर तथा डॉ० दशरथ ओझा ने किया है। दोनों ही विद्वान नाट्य साहित्य के मर्मज्ञ ही नहीं, स्रष्टा और प्रयोक्ता भी हैं। श्री माथुर ने अपने बिहार-कार्य-काल में लोकनाट्यों को प्रत्येक दृष्टि से प्रोत्साहन दिया था। सम्भवतः वहीं से उन्हें इन नाटकों के अनुसन्धान की प्रेरणा भी मिली।

हमारे देश की नाट्य परम्परा अति प्राचीन है। भरत मुनि का नाट्यशास्त्र सम्भवतः ईसा की पाँचवीं शताब्दी में रचा गया था (भरत का काल-निर्णय सन्दिग्ध ही है)। इसका आशय यह है कि भरत के पूर्व नाटकों की पुष्कल रचना हो चुकी थी। उनके समय के पूर्व लोकधर्मी नाटक खेले जाते रहे होंगे। साहित्यिक नाटकों को इन्हीं लोकनाटकों से अनुप्राणित होना पड़ता है तभी वे जनमन-रंजक बन पाते हैं। श्री माथुर ने अपनी गवेषणापूर्ण भूमिका में यह प्रतिपादित किया है कि संस्कृत नाटक अपने वर्तमान रूप में रंगशालाओं में प्रस्तुत नहीं किये जाते थे। कवि की प्रति अलग और रंगशाला की प्रति अलग होती थी, जो प्रयोक्ता द्वारा तैयार की जाती थी। यह भी सम्भव है कि कई बार नाट्यकार और प्रयोक्ता एक ही रहे हों। जन-रुचि का ध्यान रख प्रयोक्ता नाटकों के मध्य में संगीत और नृत्यों का समावेश करने लगे। ऐसे प्रवर्तन 'संगीतक' कहलाने लगे। लेखक ने 'संगीतकों' की पूरी विवेचना की है। वे कहते हैं, 'संगीतक का उद्गम-स्थान नाटककार का मानस नहीं था, लक्ष्य-ग्रन्थों की परम्परा में भी नहीं था, बल्कि इसकी उत्पत्ति हुई रंगशाला और

प्रेक्षागृह में।' यह बात नहीं है कि नाट्यकारों को जन-रुचि का ध्यान ही नहीं था पर वे प्राय: लक्ष्यग्रन्थों की अवहेलना नहीं करना चाहते थे। परन्तु इंगलैण्ड में शेक्सपियर के नाटकों की लोकप्रियता उनकी शास्त्रानुकूलता नहीं, स्वच्छन्द शेक्सपियरी विधा है जिसमें शास्त्रीयता की अवहेलना है क्योंकि शेक्सपियर स्वयं नट और प्रयोक्ता था। मध्यकालीन भारतीय भाषा-नाटकों में नृत्य और संगीत की योजना भी नटों और प्रयोक्ताओं की अपनी सूझ थी। उनमें भी संस्कृत नाटकों की शास्त्रीयता के प्रति विद्रोह दिखाई देता है। 'संगीतक' शब्द का प्रथम उल्लेख वररुचि के 'उभयाभिसारिका' नामक 'भाण' में मिलता है। 'भाण' भी एक नाट्य-प्रकार है। वररुचि के भाणों का रचना-काल ईसा की चौथी या पाँचवीं शती माना जाता है। संगीत की जातियों के प्रदर्शन से नाटकीय रस निष्पन्न हो सकता है। जैसा कि हमने ऊपर कहा है कि कभी-कभी स्वयं नाटककार भी लोक-रुचि का ध्यान रख कर अपने नाटकों में लोक-संगीतों को समाविष्ट कर लेते थे। उदाहरणार्थ, कालिदास के विक्रमोर्वशी को लिया जा सकता है जिस में अपभ्रंश के गीत समाविष्ट हैं। लेखक की यह मान्यता ठीक है कि जयदेव के 'गीतगोविन्द' ने अगणित संस्कृत और 'भाषा' नाटकों को प्रभावित किया है क्योंकि संगीत और नृत्य सहित उसे प्रस्तुत किया जाता रहा है। भाषा-नाटकों के प्रादुर्भाव के पूर्व नाट्य-प्रयोगों की प्रवृत्तियों पर भी लेखक ने सुचिन्त्य प्रकाश डाला है। और नगर और लोकनाटकों के कथानक प्राय: रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत से लिए जाते रहे हैं। पर सन्धिकालीन नाट्य साहित्य जिसमें कृष्ण की लीला-चरित्र अंकित हैं, श्रीमद् भागवत से अधिकाधिक अनुप्राणित हैं। उत्तर भारत के ही नहीं, समस्त भारत के नाट्य साहित्य को इस महाग्रन्थ ने प्रभावित किया है। संकलित भाषा नाटकों के रंगमंच के क्षेत्र असम, नेपाल और मिथिला रहे हैं। मिथिला में 'कीर्तनिया' लोकनाट्य की परम्परा कुछ समय पूर्व तक जारी थी। यह नाट्य विधा भी 'संगीतक' ही है। यद्यपि उक्त क्षेत्रों में यह लोक नाट्य-विधा प्रचलित रही है पर अन्य क्षेत्रों में भागवत धर्म और भक्ति सिद्धान्तों की प्रेरणा से गेय पदों द्वारा जनमन-रंजन होता रहा है। रासलीलाएँ इन्हीं पदों के आधार पर प्रचलित हो गयी हों तो आश्चर्य नहीं है। लेखक ने नेपाल के राजा हर्रसिंह देव तथा ज्योतिरीश्वर ठाकुर को भाषानाटकों की परम्परा के संस्थापक माना है। हर्रसिंह देव ने सिमगाँव तथा भरतगाँव के प्रासादों में रंगशालाएँ स्थापित कीं। इतना ही नहीं उन्होंने संगीत और नृत्य के नवीन प्रयोग भी किये। भाषा-गीतों को संस्कृत नाटकों में अपनाने की प्रवृत्ति को हर्रसिंह देव ने खूब बढ़ावा

दिया। हरसिंह देव के बाद भी यातगाँव के कई नरेशों ने संगीतकों की रचना की। यहाँ पर स्मरण रखना होगा कि हरसिंह देव के पूर्वज कर्नाटकी थे। हमारे देश में धर्म, साहित्य और कला ने कभी प्रादेशिक सीमा स्वीकार नहीं की— वह उत्तर से दक्षिण और दक्षिण से उत्तर परिभ्रमण करती ही रही है। इसलिए लेखकों ने उचित ही इन नाटकों की भाषा को किसी प्रादेशिक नाम से अभिहित नहीं किया। उसे केवल 'भाषा-नाटक' कहा है। 'भाषा' शब्द हमारे देश में व्यापक अर्थ में व्यक्त होता रहा है। संस्कृतेतर सभी भाषाएँ 'भाषा' कहलाती रहीं है। 'का भाषा (भाखा) का संस्कृत, भाव चाहिये साँच' उक्ति प्रसिद्ध ही है। यह शब्द अन्तरप्रान्तीय भाषा का भी बोध देता था। सोलहवीं-सत्तरहवीं शताव्दी में महाराष्ट्र के सन्त-चरित-लेखक महीपति बुआ ने कबीर के सम्बन्ध में लिखा है—

'कबीर बोले हिन्दुस्तानी'—'देशभाषा आपुली'।

मिथिला में शिवसिंह और विद्यापति ने 'संगीतक' रंगशाला को नया मोड़ दिया। असम के नामघरों तथा यात्रा-स्थानों में 'संगीतक' के अभिनय से जनता में भक्ति का प्रवाह संचारित हो उठता था। उन्होंने भाषा-नाटकों की संस्कृत की बैंसाखी एकदम हटा दी और उन्हें शुद्ध 'भाषा-नाटक' का रूप प्रदान किया। उनके प्रस्तुतीकरण में संस्कृत नाट्य तक के कुछ अंश तथा गीत गोविन्द की लास्य-माधुर्य-परम्परा का निर्वाह पाया जाता है।

लेखक का संगीतक-परम्परा का विवेचन सर्वथा मौलिक है। इसके पश्चात् उसने भाषा-रंगमंच के वर्तमान स्वरूप और भाषा-नाटकों के साहित्यिक रूपों की तलस्पर्शी समीक्षा की है।

लेखक ने असम के 'अंकिया' तथा मिथिला के 'कीर्तनिया' के स्थानापन्न 'विदायत' नाट्य परम्पराओं को पाठकों को हृदयंगम कराने का प्रयत्न किया है क्योंकि इनकी जानकारी के अभाव में भाषा-रंगमंच के वर्तमान स्वरूप को समझना कठिन होता। 'अंकिया नाट' की रंगशाला और उसके अभिनय का पूर्ण तन्त्र प्रस्तुत किया गया है। असम में आज भी 'अंकिया नाट' के अभिनय देखे जा सकते हैं। पर मिथिला में 'कीर्तनिया' लुप्तप्राय है। उसके स्थान पर विदायत नाम प्रचलित हो गया है। लेखक ने 'संगीतकों' के तान्त्रिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक रूपों को उजागर कर नाट्य साहित्य अनुसन्धित्सुओं को बहुमूल्य सामग्री प्रदान की है। डॉ० दशरथ ओझा ने भाषा-नाटकों की भाषा का सविस्तर व्याकरणिक विवेचन कर संगीतकों में प्रयुक्त भाषा को एक मिली-जुली

भाषा सिद्ध करने का सुष्ठु प्रयास किया है। भाषा-नाटककारों ने उत्तर भारत को पूर्वी और मध्यदेशीय भाषा के रूपों को स्वच्छन्दता से ग्रहण किया है। भाषा की विवेचना में शब्द भण्डार, ध्वनि, पद-रचना वाक्य-विन्यास और अर्थवत्ता पर विचार किया जाता है। भाषा-मर्मज्ञ ओझा जी ने संगृहीत नाटकों की भाषा का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि इनमें विभिन्न ग्रन्थों की भाषा के रूप मिलते हैं। शब्द-भण्डार का आदि स्रोत तो निश्चय ही संस्कृत है उसी के तत्सम और तदभव रूपों का देशी-भाषा में प्रचलन हो गया है। वे किंचित् परिवर्तन के साथ आज भी आर्य-भाषाओं में प्रचलित हैं। विद्वान लेखक ने नाटकों की भाषा को अन्तरप्रान्तीय प्राकृत की परम्परा की एक शृंखला माना है। नाटकों के व्याकरणिक रूपों में प्राकृत पैंगलम, कीर्तिलता, उक्तिव्यक्ति प्रकरण, संदेश रासक आदि ग्रन्थों की परवर्ती साहित्यिक धाराएँ आत्मसात परिलक्षित होती हैं।

सन्त जन-समाज में प्रचलित भाषा-रूपों से परिचित होते थे। अत: उन्हें निस्संकोच अपनाते थे। लेखक का यह मत है कि भाषा-नाटककारों ने यह प्रयास किया है कि वे अवहट्ट भाषा-रूप के बाद उसी की क्षेत्रीय भाषा की उद्भावना करें। मुसलमानों के आक्रमण के पश्चात् यह परम्परा अविच्छिन्न नहीं रह सकी और असमिया, बंगला, मैथिली, भोजपुरी, अवधी, ब्रज इत्यादि क्षेत्रीय बोलियों का विकास अपने अलग-अलग ढंग से होने लगा। पर हमारी धारणा यह है कि यदि मुसलमानी आक्रमण न भी होता तब भी क्षेत्रीय भाषायें अपना विकास अलग-अलग ढंग से करतीं, हाँ उनकी एकता के सूत्र बहुत अधिक विचलित न हो पाते। बोलचाल की भाषाएँ विभिन्न क्षेत्रों में तो भिन्न रहती ही आयी हैं पर साहित्यक भाषा का अन्तरप्रान्तीय रूप एक भाषा-विशेष अवश्य रहा है। यही कारण है कि अपभ्रंश के पश्चात् 'ब्रज' ने यह स्थान प्राप्त कर लिया था। इसी से हमें समस्त आर्यभाषी ही नहीं आर्येतर भाषाओं में भी ब्रजमिश्रित भाषा के पद प्राप्त होते हैं। संगृहीत भाषा-नाटकों की भाषा, जैसा कि विद्वान लेखक ने उनकी भाषा के अध्ययन के उपरान्त सिद्ध किया है, विभिन्न क्षेत्रीय भाषा प्रवृत्तियों के मिश्रण के कारण अन्तरप्रान्तीय रूप प्रस्तुत करती है। भूमिका के अन्तिम भाग में नाटककारों का जीवनवृत्त भी दे दिया गया है।

इसमें सन्देह नहीं, यह ग्रन्थ लेखकद्वय के वर्षों के परिश्रम का सुपरिणाम है। यह हिन्दी नाट्य-साहित्य को बहुमूल्य देन है। नाटकों के भाषिक, साहित्यिक

और ऐतिहासिक महत्व को प्रतिपादित करने वाली १४० पृष्ठों की भूमिका में शोधपरक दृष्टि है। उससे नये तथ्यों का उद्घाटन होता है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखकों के लिए यह ग्रन्थ आदर्श स्वरूप है।

हम दोनों कर्मठ अध्ययनशील विद्वानों का हार्दिक अभिनन्दन करते हैं। आशा है, इस मौलिक शोधपूर्ण कृति का उचित आदर तथा स्वागत होगा।

डॉ० शंकर शेष की तीन नाट्य कृतियाँ

बिना बाती के दीप

यह डॉ० शंकर शेष का रंगमंचीय नाटक है, जो त्रिअंकी और पंचपात्री है। हिन्दी में रंगमंचीय नाटकों की संख्या कम, और साहित्यिक पाठ्य-नाटकों की संख्या ही अधिक है। इसका कारण यह है कि हिन्दी नाटककार नाटक की लोकधर्मी परम्परा से अधिक परिचित नहीं है, साथ ही रंगमंच पर उतरने का उत्साह भी उनमें कम ही रहा। शेक्सपियर के नाटकों की सफलता एवं उसकी लोकप्रियता का रहस्य उसका स्वयं का रंगमंचीय तथा लोक-जीवन का गहन अनुभव था। हिन्दी में आधुनिक युग के प्रभात काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटकों की सफलता का अर्थ समझा था, इसीलिए उन्होंने लोकधर्मी नाटकों के साथ-ही-साथ साहित्यिक नाटक भी लिखे जो सहृदय भावकों के मध्य अभिनीत होते थे। भारतेन्दु के पश्चात् प्रसाद युग में लोकधर्मी नाटकों का प्रणयन निःशेष-सा हो गया। साहित्यिक नाटकों की, जो निस्सन्देह अपनी वस्तु तथा चरित्रांकन की दृष्टि से हरिश्चन्द्र युग से अधिक सफल थे, अभिनेयता की दृष्टि से सफल नहीं हो पाये। उनमें 'सब जन मिट्ठी' लोकभाषा की उपेक्षा की गयी। साहित्यिक स्तर उठाने का, संस्कृत-निष्ठता भरने का प्रयास कर उन्हें 'काव्य' बनाने का जो प्रयास किया गया उसमें उन्हें निस्सन्देह सफलता मिली पर नाटक बनाने में नहीं। प्रसादयुगीन तथा उनके परवर्ती नाटककारों में अभिनय कला कुशल उदयशंकर भट्ट, जगदीश चन्द्र माथुर तथा 'अश्क' के नाटकों को रंगमंचीय सफलता प्राप्त हुई पर उनके समकालीन कई नाटककार मंचीय शब्द को बहुत अधिक प्रश्रय नहीं दे पाये। आज इसी शब्द का अनुसंधान नाट्य कला की सफलता के लिए किया जा रहा है। मंचीय शब्द ने एक पारिभाषिकता ग्रहण कर ली है। इसे ही भरत मुनि ने 'मदुललित पदाढ्यं गूढ़शब्दार्थहीनं जनपद सुख बोध्यम' से व्याख्यायित किया है। भरत स्वयं मंच पर खेल चुके थे, वे अपने दर्शकों के साथ तादात्म्य स्थापित करने की कला से अवगत थे, तभी उन्होंने उसे ही मंचीय शब्द कहा

है जो ललित है, सरल (गूढ़ शब्दार्थहीन) है और जनपद (जनसामान्य) के लिए बोध गम्य है। गूढ़ार्थवाची शब्द मंच के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। शब्द जब तक सुखबोधक न होगा, नाट्य रस की निष्पत्ति भी नहीं कर सकेगा। कई शुद्ध साहित्यिक नाटक इसी दोष के कारण सुपाठ्य होने पर भी मंच पर असफल हो जाते हैं।

डॉ० शेष ने मंचीय शब्द की शक्ति को पहचाना है, इसीलिए उनका यह नाटक दर्शकों के संस्कारों को जागृत करने की क्षमता रखता है। नाटक के लोकाभिमुख या मंचीय होने का यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिये कि वह साहित्यिक तत्वों से विरहित होता है। भरत ने उसी शब्द को मंचीय कहा है जो ललित होता है और शब्द में लालित्य तभी आता है जब यह भाव संकुल होता है, भाषानुकूल शब्द की परिणिति ही रस निष्पत्ति में होती है।

प्रस्तुत नाटक में मंजु और विशाखा के शब्द अपने सन्दर्भों में निःस्सन्देह हृदयस्पर्शी हैं। शिव को मंजु समर्पित नहीं हुई, उसकी पारिवारिक विवशता समर्पित हुई है। उसके शब्द हैं 'मै' जो कुछ कह रही हूँ क्या वह ठीक है? मैं जानती हूँ वह ठीक नहीं है, फिर भी कह रही हूँ। वह (विशाखा) मुझ पर कितना विश्वास करती है, मुझे कितना स्नेह देती है, पर मैं उसके पाँव-तले जमीन को बराबर खोद रही हूँ। शिव, मैं तुम्हारे जीवन में न आती तो अच्छा होता।' इन शब्दों में मंजु की विवशता, एक गरीब टाइपिस्ट की असहायावस्था चीत्कार कर उठी है। मंजु के शब्दों में अनेक टाइपिस्ट युवतियों का विवशतापूर्ण जीवन उच्छ्वासित है। इसी प्रकार नेत्र विहीन शिव-पत्नी विशाखा यह जान कर भी कि उसका पति उसी के उपन्यासों को स्वरचित घोषित कर कीर्तिलब्ध हो रहा है, उसे जो पश्चाताप पीड़ित है, रहस्योद्घाटन से रोकती है, 'नहीं शिव, ऐसा नहीं करना। साहित्य का क्षेत्र अभी इतना गन्दा नहीं हुआ है। वहाँ अभी लेखक की प्रतिभा में विश्वास है। तुम ऐसा ऐलान न करना कि उपन्यास मेरे नहीं, मेरी पत्नी के लिखे हैं, अन्यथा साहित्यकारों पर से लोगों का विश्वास हट जायेगा। जीवन में यदि कुछ विश्वासों की आवश्यकता होती है तो कुछ अन्धविश्वासों की भी।' अन्तिम वाक्य का 'अन्धविश्वास' श्लिष्ट शब्द बड़ा व्यंजक है। विशाखा अन्धी थी और अपने पति पर विश्वास करती थी। वह अपने विश्वास को किसी भी कीमत पर खोना नहीं चाहती। क्या विशाखा के सुखबोधक शब्दों में साहित्य का उदात्त भावसिक्त लालित्य नहीं है?

नाटक में आदर्श और यथार्थ युग-सन्दर्भ का अत्यन्त सुन्दर समन्वय हुआ

है। इसे मैं नायिका प्रधान-नाटक मानता हूँ जो हिन्दी में अभिनव प्रयोग है। साहित्यिक चौर्यकर्म के वस्तु-गुम्फन के माध्यम से वर्तमान यथार्थ के कई रूपों को यह प्रस्तुत करता है, साथ ही भारतीय नारी के उच्चादर्श की भी प्रतिष्ठा करता है जो प्रेम, क्षमा, दया तथा उत्सर्ग की उच्चतम भूमिका पर प्रतिष्ठित है।

डॉ० शेष प्रतिभाशाली कलाकार है। आशा है, उनसे रंगमंचीय नाटकों के अद्यतन शिल्प का विकास होगा और हिन्दी साहित्य में रंगमंचीय नाटक सम्पदा की श्रीवृद्धि होगी। मैं उन्हें इस नाट्य कृति की सफलता के लिए हृदय से बधाई देता हूँ।

बन्धन अपने-अपने

डॉ० शेष का दूसरा नाटक, जो अपने विहित कर्म के प्रति समर्पित एक प्रोफ़ेसर की प्रमुख भूमिका प्रस्तुत करता है, 'बन्धन अपने-अपने' है। यह भी रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुका है। इसमें तीन अंक हैं और पाँच पात्र हैं—प्रत्येक पात्र के अपने बन्धन हैं जिनमें वह बँधा ही रहना चाहता है क्योंकि उसी में उसे सुख मिलता है। नाटक का पूरा व्यापार प्रधान पात्र लिपिशास्त्री प्रोफ़ेसर जयन्त के घर के ड्राइंग रूम में ही होता है। डॉ० जयन्त लिपिशास्त्री हैं, उसकी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति है, अहर्निश अपने अध्ययन कक्ष में ग्रन्थों में डूबा रहता है, अविवाहित है। उसका भाई अनादि उसे पितातुल्य आदर देता है। उसके आदेशों का पालन करता है। वह कॉलेज में लेक्चरर है। अविवाहित है। चेतना शोध-छात्र है जो डॉ० जयन्त के निर्देशन में कार्य करती है और डॉक्टर के प्रति अत्यधिक श्रद्धालु होने से उनकी सेवा करने में गर्व अनुभव करती है। तर्कतीर्थ दर्शन का प्राध्यापक है। डॉ० जयन्त का घनिष्ठ मित्र है।

चन्दन सरकारी छोटा अधिकारी है जो अपने से उच्च अधिकारी की पत्नी को इसलिए प्रसन्न करना चाहता है कि उससे उसकी पदोन्नति होगी। अधिकारी की पत्नी-सौन्दर्य प्रतियोगिता में भाग लेना चाहती है, अतः चन्दन उसकी उत्तम प्रकार की लिपस्टिक प्राप्त करने में सहायता का अभिनय करता है।

इन पात्रों के माध्यम से नाटककार शिक्षा क्षेत्र के आदर्श और आदर्शहीनता तथा शासकीय क्षेत्र के गैरजिम्मेदार कारनामों पर व्यंग्यात्मक प्रहार करता है। कॉलेजों के प्राध्यापकों का ध्यान पढ़ाने के बजाय अन्यत्र कहीं खिचा

रहता है। वे पुरानी सामग्री की अधघिसी घुटी ही छात्रों को पिलाते रहते हैं। डॉ० जयन्त अनादि से, जो पाँच वर्ष से लेक्चरर है, पूछता है, पर मैं तुम्हें कभी पढ़ते हुए नहीं देखता, तुम्हें अपना लेक्चर तैयार करता हुआ नहीं देखता, मुझे तो आश्चर्य है कि तुम्हारा काम कैसे चल जाता है ? मैं पिछले २५ वर्षों से यूनीवर्सिटी में पढ़ा रहा हूँ पर जिस दिन पढ़ कर नही जाता, मुझे लगता है, मैं चोरों की तरह कक्षा में घुस रहा हूँ। तुम्हारा काम कैसे चल जाता है ? इस पर अनादि का उत्तर भी सुनिये, जी, बात यह है·······एम० एस-सी० में जितना पढ़ा था, वह याद है।

विज्ञान के चरण कितनी तेजी से आगे दौड़ रहे हैं, इसका ज्ञान लेक्चरर को नहीं हो पाता। हमारे विश्वविद्यालयों और कालेजों के अनेक प्राध्यापक 'अनादि'— श्रेणी के ही हैं जो पुरानी पूँजी पर ही अध्यापन का व्यापार चलाते रहते हैं। डॉ० जयन्त की यह टिप्पणी भी वस्तुस्थिति का निर्देशन करती है—आज देख रहा हूँ कि गुरु-शिष्य की हालत वैसी ही है जैसे कंगाल दिवालिये से भीख माँगने जा रहा हो।

शिक्षा-संस्थाओं में अनुशासनहीनता का एक कारण गुरु की शिष्य को सन्तुष्ट न कर सकने की अक्षमता है। निर्देशक अपने को गौरवान्वित करने तथा छात्रों पर कृतज्ञता का भार लादने के लिए अपने साथ शोधार्थियों को नत्थी कर लेते हैं और अपने प्रभाव से उन्हें डॉक्टर भी बनवा देते हैं। विश्व-विद्यालयों के इस निंद्य व्यवसाय पर नाटक में चुभते बकोटे लिये गये हैं। डॉ० जयन्त का भाई अनादि तब तक विवाह के लिए राजी नहीं होता जब तक उसका ज्येष्ठ भाई विवाह नहीं कर लेता पर ज्येष्ठ भाई को अपनी पुस्तकें ही सब कुछ हैं। एक दिन सहसा जयन्त का मित्र तर्कतीर्थ मरघट से लौट कर जयन्त के पास पहुँचता है और उसके सम्मुख एकाकी अविवाहित कलाकार मजूमदार की करुण मृत्यु का चित्र खींचता है। उसी का दाह-कर्म करके वह लौटा हैं। डॉ० जयन्त का मन भी मजूमदार की अन्तिम दशा सुन कर विचलित हो जाता है पर वह विवाह का किससे प्रस्ताव करे, समझ नहीं पाता। एक दिन उसे उच्च-रक्तचाप के कारण चक्कर आ जाता है। उसकी शिष्या उसकी सेवा करती है। डॉक्टर को यह भ्रम हो जाता है कि वह उसके प्रति आकर्षित है। तर्कतीर्थ की सलाह से वह अपने एक नये ग्रन्थ में प्रेम-पत्र रख देता है, जिसे वह पढ़ लेती है, साथ ही उसका प्रेमी डॉक्टर का भाई अनादि भी पढ़ लेता है—दोनों धर्म-संकट में पड़ जाते हैं पर अनादि अपने ज्येष्ठ बन्धु को सुखी देखने के लिए चेतना से आग्रह करता है कि वह

डॉक्टर से विवाह कर ले। परन्तु चेतना इस प्रस्ताव को ठुकरा देती है यह कह कर कि प्रेम कोई हस्तान्तरण की वस्तु नहीं है। मैंने डॉक्टर से कभी प्रेम नहीं किया। डॉक्टर ओट से दोनों का वार्तालाप सुन कर प्रकट हो जाता है और उन्हें विवाह-सूत्र में बँधने के लिए स्वतन्त्र छोड़ कर विदेश जाने की तैयारी करता है।

नाटक में प्रारम्भ से अन्त तक आदर्श की भूमिका का निर्वाह हुआ है और यह आदर्श नाटक की कार्य-गति से सम्पन्न हुआ है। जयन्त से भी अधिक ऊँची चेतना की आदर्श-भूमिका है। उसमें उसका नारी-अभिमान उसकी स्वातन्त्र्यपूर्ण चेतना पुरुष के कायरपन पर इतना भीषण प्रहार करती है कि सामाजिक स्तम्भित रह जाता है। स्त्री किसी मूल्य पर अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध प्रेम का सौदा नहीं करती। अन्तिम अंक के उपसंहारात्मक संवाद बड़े प्रभावोत्पादक हैं। नाटक में भारतीय विचार और भावना उसकी परम्परा में संस्पर्श से जीवन्त हो उठे हैं। मैं आंग्ल समीक्षक फर्गुसन की आलोचना के ये शब्द इस नाटक के सम्बन्ध में दुहराता हूँ कि इसमें कला केवल कला नहीं है....उसके अतिरिक्त भी कुछ और है।

फन्दी

डॉ० शेष का सद्यः प्रकाशित नाटक 'फन्दी' है जिसे मैं नाट्य शिल्प का अद्यतन-प्रयोग ही कहूँगा। उसमें तीन अंक हैं और तीन पात्र हैं। इसमें स्त्री पात्र का अभाव है और भावुकता का भी, ऐसे दृश्य का भी जो पाठक के हृदय का स्पन्दन बढ़ाता तथा आँखों में ज्वार ला देता। इसमें एक सामान्य पात्र ट्रक ड्राइवर की, जो अपने पिता की हत्या के कारण विचाराधीन बन्दी है, कोर्ट में घटित मुकदमे की कार्यवाही है। उसने अपने पिता की हत्या इसलिए की थी कि वह असाध्य कैंसर का रोगी था जो असहनीय पीड़ा के कारण मृत्यु का दान माँग रहा था। पुत्र ने अपने पिता को असहनीय वेदना से मुक्त करने के लिए उसका गला घोंट कर उसे चिरनिद्रा में सुला दिया था। नाटक-कार ने वकीलों की बहस से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अभियुक्त का इरादा मृत की हत्या करने का न हो तो उसे कानून की दृष्टि से दोषी न माना जाय। विदेशों में कई राष्ट्रों ने प्राणदण्ड की सजा समाप्त कर दी है, हमारे देश में भी इसी दिशा में समय-समय पर मत व्यक्त किये जाते हैं। तीन पात्र होने के कारण नाटक का कार्य-व्यापार सामाजिक को कल्पित करना पड़ता है, यहाँ तक कि उसके सामने कैंसर से कराहते रोगी का दृश्य भी नहीं

आने पाता, उसे उसकी कल्पना ही करनी पड़ती है। अतः मंच पर सामाजिक की भावना को उद्दीप्त करने वाला दृश्य उपस्थित नहीं किया गया। यह बुद्धिवादी नाटक हिन्दी रंगमंच पर अभिनीत भी हो चुका है जिसकी पत्रों में सफलता की चर्चा भी प्रकाशित हुई है।

हम डॉ० शेष की प्रयोग-प्रवृत्ति का स्वागत करते हैं पर प्रयोग सर्वथा परम्परा से बहुत दूर न हो, यह आग्रह भी करते हैं।

●●

तेलुगु और हिन्दी नाटक

डॉ० पाण्डुरंग राव 'मुरली' तेलुगु भाषी होते हुए भी हिन्दी के अध्ययनशील गम्भीर विद्वान हैं। उनकी भाषा में प्रांजलता, प्रवाह और भाव-प्रवणता है। उनका गद्य, काव्य के समान सरस कल्पनाओं से श्रुतिमधुर बन गया है और हृदयस्पर्शी भी। उनका यह महाप्रबन्ध शोध-कृति है, जिसमें आधुनिक हिन्दी और तेलुगु नाट्यकृतियों का आलोचनापरक, तुलनात्मक अध्ययन है। शोध-प्रबन्ध में शोधकर्त्ता तटस्थ भाव से प्राप्त तथ्यों का विश्लेषण कर निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। वह किसी देश, जाति, भाषा आदि के पूर्वाग्रह से अपने को अभिभूत नहीं बनाता। यह कार्य तो राजनीति-ग्रह-गृहीत एक प्रचारक का होता है। जिस शोध-प्रबन्ध में सात्विक निश्छल तटस्थ वृत्ति जितनी अधिक होती है, वह उतना ही समादृत होता है। डॉ० राव के प्रबन्ध में इस वृत्ति के स्थल-स्थल पर दर्शन होते हैं। जहाँ वे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की बहुमुखी प्रतिभा के कायल होते हुए भी उनके हरिश्चन्द्र नाटक की तेलुगु नाटककार वीरेशलिंगम् के हरिश्चन्द्र से तुलना कर यह कहते हैं कि उसमें भारतेन्दु बाबू से अधिक नाटकीय तत्व हैं, वहाँ उनके तथ्याधारित निष्कर्ष को मानने में किसी को तनिक भी आपत्ति नहीं होती। इसी प्रकार, वे स्पष्ट शब्दों में जयशंकर प्रसाद के नाटकों की श्रेष्ठता मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि उनकी कोटि का नाटककार तेलुगु में नहीं हुआ। इन उदाहरणों से उनके सन्तुलित और स्वतन्त्र दृष्टिकोण का परिचय मिलता है।

हिन्दी में नाटक-रचना का प्रारम्भ कब से हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। हिन्दी का क्षेत्र बड़ा व्यापक है, उसमें पश्चिम की राजस्थानी (यद्यपि कतिपय राजस्थानी विद्वान् अपनी मातृभाषा के अत्यधिक मोह में उसे 'हिन्दी' से पृथक स्वतन्त्र भाषा कहने लगे हैं।) और पूर्वी छोर की मैथिली भी शामिल है। ब्रज, खड़ी बोली और अवधी का पुष्ट साहित्य भी हिन्दी के ही अन्तर्गत है। अतएव, जब तक उसकी प्रत्येक विभाषा में प्राचीन ग्रन्थों की खोज समाप्त नहीं हो जाती, तब तक हमें बाबू हरिश्चन्द्र के इस मत को ही

मानना पड़ेगा कि "विशुद्ध नाटक रीति से पात्र-प्रवेशादि नियम रक्षण द्वारा भाषा का प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्यचरण कविवर गिरिधरदास (वास्तविक नाम बाबू गोपालदास) का है और वह 'नहुष' नाटक है"। 'सन्देशरासक' अपभ्रंश की रचना है। अतएव, उसे हिन्दी का नाटक निर्विवाद रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता। तेलुगु में सन् १८७० ई० के पूर्व नाटकों का अस्तित्व नहीं था और न रंगमचों का ही। वहाँ जनता लोक-नाट्य से अपना मनोरंजन किया करती थी। ये लोक-नाट्य भागवत-मण्डलियों द्वारा 'वीथियों' में अभिनीत होते थे। सम्भवतः, इसीलिए ये 'वीथि-नाटक' कहलाते थे। इन्हें 'यक्षगान' भी कहते थे। इनमें अभिनय के साथ-साथ संगीत और नृत्य का भी समावेश होता था। भरत ने 'नृत्य' को नाटक का एक अंग माना था, पर मध्ययुगीन संस्कृत-नाटकों में नृत्य नाटक के लिए अनिवार्य अंग नहीं रह गया। 'यक्षगान' भरत के नाट्य-शास्त्र की परम्परा में नृत्य, नृत्त, संगीत आदि से सम्पन्न रहते थे और जनता उन पर मुग्ध हो उठती थी। डॉ० सीतापति का कथन है कि 'तेलुगु कवियों ने बहुत समय तक संस्कृत-नाटकों के आदर्श पर नाटक लिखने का प्रयास नहीं किया; क्योंकि उनका यह दृढ़ विश्वास था कि नाटक दृश्यकाव्य है और अभिनय के लिए उसकी रचना की जाती है; परन्तु उन्हें यह विश्वास था कि नाटक यदि मंच पर प्रस्तुत किया जाय, तो उसे यक्षगान अथवा वीथि-नाटकों जैसी लोकप्रियता प्राप्त हो सकती है।' उनका विचार था कि 'केवल अभिनय और संवाद जनता को आकर्षित नहीं कर सकते। उनमें गीत और नृत्य का मिश्रण होना चाहिये।'

डॉ० सीतापति का तो यह भी मत है कि हिन्दी-नाटकों से तेलुगु-नाटक प्रेरित हुए हैं। वे लिखते हैं—'धारवाड़ और पूना से थियेटर कम्पनियों का आना प्रारम्भ हुआ। वे हिन्दी नाटक प्रस्तुत करतीं, उनके बड़े चित्र-विचित्र पर्दे और आकर्षक दृश्य विधान हुआ करते थे। तब तेलुगु में भी इसी प्रकार के नाटकों की आवश्यकता का अनुभव किया गया।'

तेलुगु में सर्वप्रथम मौलिक नाटक 'निंदकराज्यम्' सन् १८८० में, वासुदेव शास्त्री ने लिखा। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी में तेलुगु से पूर्व मौलिक नाटक लिखे जाने लगे थे। हिन्दी लोक-नाट्यों में रासलीला, रामलीला, नौटंकी स्वांग, विदेसिया, तमाशा, आदि बहुत पूर्व से प्रचलित रहे हैं और आज भी वे जन-मनोरंजन का एक साधन बने हुए हैं। शिक्षित समाज भी प्राचीन संस्कृति की रक्षा की दृष्टि से इन्हें प्रोत्साहन दे रहा है। अतः, वे अशिक्षित जनता के बीच ही नहीं, शिक्षित जनता के बीच भी अपनी लोकप्रियता बढ़ा

रहे हैं। प्रत्येक भाषा का साहित्य लोक-नाट्यों का ऋणी है। उनसे ही वह अनुप्राणित होता आया है। तेलुगु प्रान्त में प्राचीनतम नाट्य परम्परा 'बोम्म-लाटा' से प्रारम्भ होती है जिसे पुत्तलिका नृत्य कहते हैं।

"आन्ध्र जनता में बोम्मलाटा की भाँति हिन्दी-भाषा-भाषियों में स्वांग-नाटक प्राचीन काल से बहुत प्रसिद्ध होता रहा और आज भी यह अपनी अभिनव शोभा के साथ हिन्दी-नाट्य-भारती का गौरव बढ़ा रहा है। प्राचीन गौरव तथा प्रचार की दृष्टि से जहाँ ये स्वांग नाटक बोम्मलाटा के अधिक निकट दिखाई देते हैं, वहाँ रचना और प्रदर्शन की प्रणाली की दृष्टि से ये यक्षगान से ही अधिक साम्य रखते हैं। बोम्मलाटा और यक्षगान में तत्वतः कोई अन्तर नहीं है और वास्तव में वे एक-दूसरे के सहायक हैं। परन्तु फिर भी यक्षगान में संगीत की प्रधानता है और बोम्मलाटा में नृत्य की। दोनों के सहयोग से नृत्य और संगीत के सम्मिलित आनन्द की सुखप्रद वांछनीयता प्राप्त होती है। आन्ध्र के यक्षगान को हिन्दी के स्वांग का समकक्ष बताने में हमारा संकेत प्रधानतः उन दोनों की गीतात्मकता की ओर है। दोनों प्रधान रूप से गेय हैं और नृत्य का गौणरूप से उनमें समावेश होता है।" डॉ० राव पुनः लिखते हैं—

"स्वांग और यक्षगान की भाँति हिन्दी के लीला-नाटक और आन्ध्र की कलापशैली की प्रेरणा और प्रवृत्ति में बहुत कुछ साम्य है। पर, प्रगति में थोड़ा-सा अन्तर है। कृष्णभक्त और रामभक्त कवियों के हाथों लीला-नाटक का हिन्दी में जो यथेष्ट विकास हुआ, वह आन्ध्र ही क्या, अन्य किसी देशी भाषा के साहित्य में नहीं हुआ होगा।

लीला-नाटकों की मूल प्रेरणा गोपीमण्डल-मण्डित देवकीनन्दन की रास-क्रीड़ा का भागवतीय वर्णन है। गोपी-गोपी के बीच में माधव और माधव-माधव के बीच में गोपी के क्रम से सुन्दर मण्डल की आयोजना होती है, जिसके बीच देवकीनन्दन मुरली को निनादित करते हुए मण्डल को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। इसी लीला या क्रीड़ा का अनुकरण कृष्णभक्त कवियों के द्वारा होता था। आन्ध्र की जनता में प्रसिद्ध रासक्रीड़ा में यतिवर नारायण तीर्थ की तरंगों (गीतों) का प्रयोग अधिक मात्रा में होता था। लीला के प्रादुर्भाव के समय वृन्दावन के लताकुंजों में, श्रीकृष्ण की अद्भुत लीलाओं के काल्पनिक दृश्यों में तन्मय होने वाले भक्त आचार्यों में महात्मा हितहरिवंशराय का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता था। इनका जन्म संवत् १५५९ में हुआ था। सांसारिक सुख सर्वस्व को ब्रज की आत्मविस्मरणकारिणी अलौकिक शोभा पर

न्योछावर कर के नन्दनन्दन की ही अनन्य आराधना में अपना सारा जीवन अर्पित करने का सौभाग्य इन महात्मा को प्राप्त था। नारायण तीर्थ भी इसी प्रकार के कृष्णलीलोपजीवी थे। दोनों धुरन्धर गायक, भक्त, भावुक और प्रेम के आराधक थे। आन्ध्र प्रान्त के भक्त जनों के बीच रासलीला की यह प्राचीन परम्परा आज भी प्रचलित है।''

डॉ० राव ने अपने 'प्रबन्ध' के प्रारम्भ में संस्कृत नाटकों का ऐतिहासिक सिंहावलोकन किया है; क्योंकि हमारे देश की प्रायः सभी भाषाओं के साहित्यिक नाटकों ने प्रारम्भ में उनके तन्त्र को आदर्श माना है और क्रमशः पाश्चात्य नाटकों के अनुकरण पर अपने को ढालने का प्रयत्न किया है।

जैसा कि मैं पहले कह आया हूँ, डॉ० राव ने आलोच्य काल के आधुनिक नाटकों का (जिनमें एकांकी भी सम्मिलित है) विषय आदि की दृष्टि से विभाजन कर बहुत सन्तुलित और साथ ही निर्भीक विवेचन किया है और इस प्रकार भावी अनुसन्धानकर्त्ताओं का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। प्रबन्ध की विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि के अतिरिक्त भाषा का सौष्ठव भी आकर्षक है। अहिन्दी-भाषी का हिन्दी पर इतना अच्छा प्रभुत्व हिन्दी-भाषी के मन में भी ईर्ष्या उत्पन्न कर सकता है। मेरा विश्वास है, यह कृति विद्वानों में निश्चय ही समादृत होगी। हिन्दी और अहिन्दी भाषा-साहित्य की विभिन्न विधाओं के तुलनात्मक अध्ययन से, बाह्य विभिन्नता में आभ्यन्तर एकता के दर्शन से मन प्रसन्न और आश्चर्य चकित हो जाता है। साहित्य में समस्त भारत की संस्कृति अपनी अखण्डता का ही उद्घोष करती है। रामायण और महाभारत से भारत के सभी भाषा-साहित्य ने जीवन-रस प्राप्त किया है। आंग्ल-साहित्य के सम्पर्क के पश्चात् भी रह-रह कर हमारी आँखें अपने अतीत की संस्कृति को सुरक्षित रखने वाले उपर्युक्त दो महाकाव्यों की ओर दौड़ जाती हैं और कुछ ले कर ही लौटती हैं। आन्ध्र और हिन्दी साहित्य ने परस्पर एक-दूसरे से बहुत कुछ लिया-दिया है। इसका साक्ष्य डॉ० राव के प्रबन्ध से मिल जाता है। मैं पुनः डॉ० राव को उनकी इस सराहनीय कृति पर हृदय से बधाई देता हूँ।

● ●

साहित्य समीक्षा के पाश्चात्य मानदण्ड

भारतीय अद्यतन साहित्य की प्राय: प्रत्येक विधा पाश्चात्य साहित्य विचारधारा की छाया के साथ-साथ उसके शिल्प को भी ग्रहण करती जा रही है। अत: उसको हृदयंगम करने के लिए हमें पाश्चात्य साहित्य-प्रवाह तथा वहाँ प्रचलित समीक्षा के मानदण्डों से भी अवगत होने की आवश्यकता है। साहित्य की परख के प्रतिमान नित्य नहीं रहते, वे युगानुरूप बदलते रहते हैं—कभी पूर्वयुग की मान्यताओं का पूर्ण, कभी आंशिक समर्थन, कभी उनका सर्वथा विरोध करते हैं और कभी उनके आधार पर नये प्रतिमान स्रष्ट होते रहते हैं। जिस प्रकार साहित्य प्रत्यय में परम्परा और प्रयोग का स्वीकार या तिरस्कार होता रहता है उसी प्रकार उसके मानदण्डों में भी यही प्रक्रिया अप्रतिहत रीति से जारी दिखलायी देती है। भारतीय साहित्य-शास्त्र के समान पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र भी दर्शन और मनोविज्ञान से प्रभावित होता रहा है।

भारतीय काव्य-शास्त्र का प्रारम्भ भरत से होता है पर भरत के पूर्व भी काव्य (जिसके अन्तर्गत नाटक, कविता, कथा-आख्यान आदि, ललित वाङ्मय का समाविष्ट होता है) पर आचार्यों ने स्फुट चिन्तन किया है, जिनका उल्लेख तो परवर्ती ग्रन्थों में मिलता है पर उनकी कृतियाँ अनुपलब्ध हैं। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का प्रारम्भ यूनान के दार्शनिक प्लेटो से होता है, यद्यपि उसने स्वतन्त्ररीति से काव्य-शास्त्र की रचना नहीं की, जिस प्रकार भरत ने नाट्य-शास्त्र की है फिर भी उसने अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में काव्य-स्रजन की प्रक्रिया और कवि-कर्म के सम्बन्ध में भी विचार व्यक्त किये हैं। वह एक आदर्श गणराज्य की कल्पना करता है—अत: वह काव्य के लोकाहितकारी शिव तत्व को ही संस्तुति कर सका है। उसने एक दार्शनिक की भाँति काव्य को सृष्टि की अनुकृति कहा है और सृष्टि को मात्र विश्वसत्ता की अनुकृति माना है। इस प्रकार उसकी दृष्टि से काव्य अनुकृति की अनुकृति मात्र है। प्लेटो का यह अनुकृति-सिद्धान्त (Mimesis) एक दार्शनिक विचार है। प्लेटो के पश्चात् उसके शिष्य अरस्तू ने अपने गुरु के काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का समर्थन नहीं किया।

उनका खण्डन और परिमार्जन अपने ग्रन्थ 'पोइटिक्स' में किया है। जिस प्रकार भरत के नाट्य-शास्त्र का परवर्ती साहित्य आचार्यों पर प्रभाव पड़ता रहा है उसी प्रकार अरस्तू के 'पोइटिक्स' ने भी पाश्चात्य साहित्य के विवध वादों-प्रतिमानों को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रीति से प्रभावित किया है। पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रों में भी काव्य व्यापक अर्थ में गृहीत हुआ है। यूरोप में दुःखान्त नाटक के रचना तन्त्र का विवेचन अरस्तू से प्रारम्भ होता है। उसने वैद्यक शास्त्र की 'विरेचन क्रिया' को साहित्य-शास्त्र में घटा कर यह प्रतिपादित किया कि मनुष्य भय और करुणा से आक्रान्त रहता है। अतः यदि नाटक में इन्हें उद्दीप्त कर प्रदर्शित किया जाय तो वह इन दो मनोविकारों से मुक्त हो सकेगा। इस प्रकार 'ट्रेजडी' का पर्यवसान आनन्द में हो जायेगा जो काव्य का परम ध्येय है। भारतीय काव्य-शास्त्र में भी करुण भाव पुष्ट होकर जब 'रस' की स्थिति में पहुँच जाता है तब वह आनन्दमय हो जाता है क्योंकि 'रस' आनन्द का ही पर्याय है। सृष्टि के घात-प्रतिघात लौकिक होने से मानव के सुख-दुःख के कारण बनते हैं क्योंकि वे लौकिक भाव हैं पर जब वे साहित्य में अवतरित होते हैं तब लौकिक नहीं रह जाते, अलौकिक हो जाते हैं। इसी से वे लोकधर्मी न रह कर लोकोत्तरधर्मी हो जाते हैं। अतः 'आनन्द' का संचार करते हैं क्योंकि उनसे सामाजिक का व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं रहता। साहित्य-शास्त्र में कवि-सृष्टि-सम्बन्ध, कवि-समाज-सम्बन्ध और कवि-काव्य-सम्बन्ध को ले कर ही समय-समय पर विवेचन होता रहा है और होता रहेगा। कभी कवि सृष्टि आश्रित, कभी सृष्टि से परे अवश्य जगत-आश्रित, कभी समाज आश्रित और कभी स्वतन्त्र भाव विलासी निरूपित किया गया है। इन्हीं निरूपणों के कारण साहित्य में विविध वादों का प्रचलन हुआ है।

साहित्य के प्रतिमान साहित्य सृष्टि का अनुगमन करते हैं। उन्हीं के आधार पर समीक्षक उसके शिल्प का निर्धारण करते हैं। उसकी प्रत्येक विधा का अपना स्वतन्त्र शिल्प होता है पर प्रत्येक विधा में भाव या विचारों में विभिन्नता होना अनिवार्य नहीं है।

साहित्य समीक्षा के दो प्रकार होते हैं एक में साहित्य के तन्त्र-टेकनिक की विवेचना होती है और दूसरे में उसके प्रयोग की। इन्हें क्रमशः सैद्धान्तिक और प्रायोगिक समीक्षा कहते हैं। पाश्चात्य साहित्यशास्त्रियों ने, रिचार्ड्स को छोड़ कर, प्रायः सैद्धान्तिक समीक्षा पर ही अपने विचार व्यक्त किये हैं। (रिचार्ड्स ने सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दोनों समीक्षा-प्रकारों पर विचार व्यक्त किये हैं)। हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यद्यपि पाश्चात्य समीक्षा

पर शास्त्र ग्रन्थ की रचना नहीं की पर उन्होंने उसका गहन अध्ययन कर उसे भारतीय काव्य-शास्त्र के साथ समन्वित करके और कहीं-कहीं मिश्रित कर ने का उपक्रम किया है। समन्वय और मिश्रण में भाव भेद है। समन्वय में दोनों रूप परिलक्षित रहते हैं और सम्मिश्रण में दोनों रूपों का एकीकरण हो जाता है। जिस प्रकार त्रिवेणी में गंगा-जमुना का जल एक ही स्थान में पृथक-पृथक दर्शित होता है पर 'सरस्वती' का जल वहाँ विद्यमान होते हुए भी नहीं दिखलाई देता। वह दोनों में कहाँ मिल गया, यह नहीं जान पड़ता। उसी प्रकार आचार्य की आलोचना में कहीं पाश्चात्य और कहीं पौरस्त्य रूप पृथक्-पृथक् परिलक्षित होते हैं और कहीं उनका ऐसा मिश्रण हो गया है कि जिसका आभास मात्र ही हो पाता है। बाबू श्यामसुन्दरदास ने हिन्दी में आलोचना शास्त्र के ग्रन्थों का अभाव अनुभव कर हडसन के 'इन्ट्रोडक्शन टु लिटरेचर' का साहित्यालोचन के पहले संस्करण में अधिकांश अनुवाद किया और बाद के संस्करणों में उसके विचारों को ग्रहण कर भारतीय काव्य-शास्त्र के साथ समन्वित करने की चेष्टा की। शताब्दी के तीसरे दशक के बाद से हिन्दी में पाश्चात्य काव्य-शास्त्र पर स्फुट लेखों और पुस्तकों के रूप में प्रचुर सामग्री आने लगी है। दिल्ली विश्वविद्यालय के आचार्य डॉ० नगेन्द्र ने पाश्चात्य काव्य शास्त्र पर स्वयं और विभाग द्वारा योजनाबद्ध साहित्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। तुलनात्मक दृष्टि से भी ग्रन्थों का स्वतन्त्र और शोध-प्रवन्ध के रूप में प्रकाशन हो रहा है। जब से हिन्दी के एम० ए० के पाठ्यक्रम में भी पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का सन्निवेश हुआ है तब से इस विषय पर ग्रन्थों का प्रणयन बराबर होता जा रहा है। अधिकांश ग्रन्थों में सिद्धान्तों के हिन्दी रूपान्तर मात्र मिलते हैं जो शाब्दिक होने के कारण जटिल भी हो गये हैं और जो बिना मूल के पढ़े स्पष्ट नहीं हो पाते। सबसे अधिक कठिनाई पारिभाषिक शब्दों की है। ग्रन्थों में उनकी समानरूपता नहीं मिलती। केन्द्रीय पारिभाषिक शब्दावली आयोग ने समीक्षा शब्दावली का मानकीकरण किया है पर वह अभी प्रकाशित नहीं हो पायी। परन्तु सामान्य शब्दावली प्रकाशित हो गयी हैं। उसमें भी साहित्य सम्बन्धी शब्दों का चयन किया गया है। पर लेखक स्वनिर्मित शब्दावली पर अधिक विश्वास करते हैं।

हमें मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित 'साहित्य समीक्षा के पाश्चात्य मानदण्ड' ग्रन्थ प्राप्त हुआ है। जहाँ तक विषय सामग्री का प्रश्न है वहाँ तक वह अनेक ग्रन्थों के समान है पर जहाँ सामग्री के उपयोग और उसे व्याख्यायित करने का प्रश्न है, वहाँ वह उनसे बहुत कुछ पृथक् है—विशिष्ट भी

है। उसके लेखक डॉ० राजेन्द्र वर्मा अंग्रेजी के विचारशील प्रोफ़ेसर रहे हैं। उनका अंग्रेजी पर प्रभुत्व असन्दिग्ध है; साथ ही हिन्दी साहित्य के बराबर सम्पर्क में रहने के कारण हिन्दी से भी उनका विलगाव नहीं हो पाया। इस प्रकार अंग्रेजी भाषा और साहित्य तथा हिन्दी भाषा में अवाधित गति होने के कारण विवेचन में प्रासादिकता आ गयी है। प्राध्यापक प्रवृत्ति के कारण विषय को ग्राह्य बनाने की भरसक चेष्टा की गयी है। पारिभाषिक शब्दों की कठिनाई उन्हें भी अनुभव हुई है। उन्होंने कई शब्द गढ़े हैं जो हिन्दी समीक्षा जगत् में प्रचलित नहीं है। यथा Classicism (क्लासिसिज्म) के लिए रीतिवाद। यह शब्द हिन्दी छात्रों को भ्रमाकुल कर सकता है क्योंकि यह शब्द वामन के 'रीति-सिद्धान्त' का पर्याय समझा जा सकता है। हिन्दी में इसके लिए आभिजात्यवाद अधिक प्रचलित है। Poetic Image के लिए लेखक ने कल्पचित्र गढ़ा है पर इसके लिए हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समय से काव्य-बिम्ब शब्द रूढ़ हो गया है। Myth के लिए कथाकल्प प्रयुक्त किया गया है पर यह हिन्दी में मूलरूप में ही ग्रहण कर लिया गया है, यों 'कथाकल्प' भी भाव-व्यंजक है; Stream of Consciousness के लिए, चेतन-सरिता का प्रयोग किया गया है पर हिन्दी में 'सरिता' के स्थान पर 'प्रवाह' शब्द चल पड़ा है जो मूल का अनुवाद है। पृष्ठ ३८ पर Semantic के लिए शब्द-विज्ञान दिया गया है पर वास्तव में यह 'अर्थविज्ञान' है। यदि शब्दार्थ विज्ञान लिखा जाता तो अधिक उपयुक्त होता। कतिपय अंग्रेजी शब्दों का हिन्दीकरण बहुत उपयुक्त किया है, यथा; Fancy (फेन्सी) के लिए कल्पना-तरंग, Wit (विट) के लिए बुद्धिविलास, Reversal for Tragedy विपरिणाम, Concept (कन्सेप्ट) के लिए यद्यपि 'प्रत्यय' प्रचलित है फिर भी 'विचारणा' ग्राह्य हो सकता है।

लेखक का अंग्रेजी में चिन्तन होने से स्वाभावतः वाक्य-विन्यास में चिन्तन की भाषा रचना का अवतरित हो जाना स्वाभाविक है पर उससे पाठक को भाव-ग्रहण में विशेष बाधा नहीं पड़ती।

ग्रन्थ दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में समीक्षा-शास्त्र का प्लेटो से ले कर इलियट-रिचर्ड्स तक के काव्य-सिद्धान्तों का पर्यवेक्षण है तथा खण्ड के अन्त में चलते-चलते नाटक उपन्यास के तन्त्रों पर भी चर्चा कर दी गयी है; दूसरे खण्ड का शीर्षक है—विचारणा है। इसमें पाश्चात्य आधुनिक कविता की मूल प्रेरणाएँ, प्रतीकवाद, सौन्दर्यवाद, उपन्यास में चेतना-प्रवाह, आधुनिक नाटक, रोमेंटिसिज्म, क्लासिकल साहित्य और साहित्य समीक्षा की सीमाओं

पर विचार किया गया है। इस प्रकार २२७ पृष्ठों में पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र का संक्षेप में काल-क्रमानुसार ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। विवेचन में पृष्ठ ६८ पर विरोधी कथन से कथ्य अस्पष्ट हो गया है :—

'इस सहज ज्ञान या सहज अनुभूति, जिसमें तर्क का कोई स्थान नहीं है, वह शक्ति है जो कल्पनाशक्ति से ही आती है।' इस कथन में सहज ज्ञान का प्रादुर्भाव कल्पनाशक्ति से ही माना गया है परन्तु इसी के बाद के वाक्य में कहा गया है—'पूर्णता जो कला के स्वरूप में होती है, तर्क के द्वारा खण्ड-खण्ड हो कर विचार में उतारी तो जा सकती है, परन्तु उसका वास्तविक सृजन तभी सम्भव है जब अपनी सहज अनुभूति द्वारा कल्पना शक्ति जगाकर कवि ऐसे दर्शन का आभास पाता है जिसमें वह पूर्णतः प्रतिबिम्बित हो।' इस वाक्य में कल्पनाशक्ति का जागरण सहज अनुभूति द्वारा कहा गया है।

हमारे मत से सहज अनुभूति (Intuition) द्वारा ही कल्पना का जागरण होता है।

ज्ञात नहीं, पुस्तक मध्य प्रदेश के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों को सम्मुख रख कर लिखी गयी है या उसके लेखन में पाश्चात्य शास्त्र का सम्पूर्ण इतिहास प्रस्तुत करने की दृष्टि रही है पर इसमें सन्देह नहीं कि उसमें पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के सभी प्रमुख सिद्धान्तों और प्रवृत्तियों का आलोचनात्मक सिंहावलोकन और प्रौढ़ विवेचन हो गया है। भाषा विषयानुरूप सुगठित, प्राञ्जल और शास्त्रीय है।

हम विद्वान लेखक तथा रचना अकादमी को क्रमशः सुचिन्त्य लेखन तथा सुरुचिपूर्ण प्रकाशन के लिए हृदय से बधाई देते हैं। हमारा विश्वास है कि यह कृति अनेकों के बीच भी अपनी विवेचन-शैली के कारण विशिष्ट 'एक' सिद्ध होगी।

पुस्तक में यत्र-तत्र प्रूफ की अशुद्धियाँ प्रकाशन-सौष्ठव के प्रति विरतभाव उत्पन्न करती हैं।

● ●

अँग्रेजी की स्वच्छन्द कविता

हिन्दी में 'स्वच्छन्दतावाद' शब्द का प्रचलन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास से प्रारम्भ होता है। उन्होंने मैथिलीशरण गुप्त, पं० श्रीधर पाठक, पं० मुकुटधर पाण्डेय और पं० रामनरेश त्रिपाठी की रचना का मूल्यांकन 'स्वच्छन्दतावाद' की दृष्टि से किया है। स्वच्छन्दतावाद की मुख्य-विशेषता, प्रकृति-प्रेम, राष्ट्र-प्रेम, एकान्त-प्रेम आदि निरूपित किये गये हैं। कल्पना की स्वच्छन्दता भी उसका एक लक्षण माना गया है। उपर्युक्त कवियों में आचार्य ने ये सब लक्षण देखे। परन्तु यह स्वच्छन्दतावाद का भारतीय रूप हो सकता है पर अंग्रेजी 'स्वच्छन्दतावाद' और स्वच्छन्द कविता का रूप इससे सर्वथा भिन्न है। हिन्दी के छायावादी कवि 'पन्त' की कुछ रचनाओं में अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी कवि शैली का प्रभाव देखा जा सकता है। शैली को रोमेण्टिक (स्वच्छन्दतावादी) कवि कहा जाता है पर उसने कभी अपने को इस 'वाद' से नहीं बाँधा। यदि उसकी निर्बन्धता ही उसे स्वच्छन्दतावादी कहलाने का कारण हुई हो तो बात दूसरी है। स्वच्छन्दतावादी कवियों का मूलस्वर विद्रोह है। वे परम्परा और रूढ़ियों के साथ अपने को सम्पृक्त करने से सदा कतराते रहे हैं। हिन्दी के छायावादी या छायावाद-पूर्व के कवि नवीनता के उपासक भले रहे हों पर अपने को परम्परा से विच्छिन्न कभी नहीं कर सके। खड़ी बोली में लिखना उनके समय में परम्परा से विद्रोह भले ही कहा जाय पर उनके भावों में उससे दूर रहने की कोई चेष्टा नहीं देखी जाती और न शिल्प में ही कोई नये प्रयोग लक्षित हुए।

आधुनिक हिन्दी काव्य में पाश्चात्य स्वच्छन्दतावाद का किस सीमा तक प्रवेश हुआ है, इसे हिन्दी पाठक जानने को उत्सुक हो सकता है। विश्वविद्यालयों में जब हिन्दी शिक्षा का माध्यम बनने जा रही है तब अंग्रेजी में प्राप्त सामग्री को आत्मसात कर हिन्दी में प्रस्तुत करने की आवश्यकता बढ गयी है। हिन्दी में 'रोमेण्टिसिज्म' पर स्फुट लेख और दो-तीन कृतियाँ ही देखने में आयी हैं। हमें प्रसन्नता है कि मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी ने श्री प्रमोद

वर्मा द्वारा 'अंग्रेजी की स्वच्छन्द कविता' पर पुस्तक लिखा कर इस कमी को बहुत-कुछ अंश में पूरा कर दिया है। श्री प्रमोद वर्मा अध्ययनशील प्रबुद्ध छात्र रहे हैं। वे बिना अध्ययन के कुछ भी लिख देने में विश्वास नहीं करते। यही कारण है, कि प्रस्तुत पुस्तक में उनकी विषय ग्रहणशीलता और सहज प्रतिपादन-क्षमता दर्शित हुई है।

अंग्रेजी की स्वच्छन्द कविता—यूरोप की स्वच्छन्द कविता से अपने स्वर में भिन्नता रखती है। उसके कवि भले ही अपने वासन्ती मस्ती में रूढ़ियों के रूखे-सूखे पत्तों को छिन्न-भिन्न कर नये 'बोल' बोलते हों पर वे अपने युगीन यूरोपीय 'वाद' से सहसा प्रभावित नहीं हुए। स्वच्छन्दतावाद (जो रोमेण्टिसिज़म का हिन्दीकरण है) परिभाषित नहीं हो पाया। श्री वर्मा ने अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को प्रस्तुत कर स्वच्छन्दतावाद के सामान्य लक्षण ह्यूगो के शब्दों में निरूपित किए हैं—"स्वच्छन्द काव्य अनुकरण सिद्धान्त तथा रूढ़ि-नियमों और शैलियों की अवहेलना कर साहित्य में उदारतावाद की प्रतिष्ठा करता है। आत्म-चेतना इस काव्य का प्राण है। आत्मगत सौन्दर्यबोध, तीव्र भावावेग और ऐन्द्रियता इसके सामान्य लक्षण हैं। इसने तर्क और विवेक का विरोध कर आध्यात्म और धर्म की प्रतिष्ठा की।" अंग्रेज कवियों में परम्परा और जातीयता के प्रति मोह होने के कारण यह रूढ़िभंजक धारा प्रबल वेग से प्रवाहित नहीं हो सकती। अंग्रेज कवियों में वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज़, बायरन, शैली, कीट्स आदि कवियों को यद्यपि इस धारा का कवि कह दिया जाता है पर वे किसी सुयोजित आन्दोलन के पक्षधर नहीं थे। उनकी अपनी स्वतन्त्रधारा भी जो एक-दूसरे के साथ हुबहू मेल नहीं खाती थी। श्री वर्मा का यह निष्कर्ष ठीक है कि "अंग्रेजी का स्वच्छन्द काव्य अपनी परम्परा का संवर्धन करता है, उसकी अवहेलना नहीं।" टी० एस० इलियट, जिसका आराधन नयी कवितावादी पहले करते रहे हैं, काव्य को परम्परा से दूर रखने का कभी समर्थक नहीं रहा। वह धर्म और दर्शन के साथ भी अपने को जोड़े रहा क्योंकि कोई कविता परम्परा से कट कर अपने को सम्प्रेषण नहीं बना सकती और इसी कारण दीर्घजीवी नहीं हो सकती।

लेखक ने संक्षेप में इंग्लैण्ड, जर्मनी और फ्रान्स में प्रचलित रोमेण्टिसिज़म-आन्दोलन पर विहंगम पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली है। नवीन काव्या-चेतना को गति देने वाले दार्शनिकों में हाब्ज, लाक और रूसो उल्लेख्य हैं। इन्होंने व्यक्ति और व्यष्टि की इच्छा के सम्बन्ध पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया है। रूसो ने व्यष्टि और समष्टि की इच्छा में कोई विरोध नहीं

देखा। उन्होंने दोनों में सन्तुलन बनाये रखने पर बल दिया है। उन्होंने कवियों को प्रकृति की ओर लौटने का आह्वान किया क्योंकि 'समाज में विकृति है, प्रकृति में सौन्दर्य है, समाज बाँधता है, प्रकृति मुक्त करती है। विवेक के बन्धनों को परित्याग कर मन की सहज वृत्तियों के आदेश पर जीवन व्यतीत करो।'

स्वच्छन्द कवियों पर रूसो के दर्शन का प्रभाव पड़ा। अतः उन्होंने दृश्य-जगत को चेतन और प्राणवान माना, प्रकृति के विविध रूपों के मनोहर दृश्य अंकित किये, कल्पना को प्रधानता दी, आध्यात्मिकता की ओर रुझान प्रकट की, अपने नैराश्य, अवसाद को भी वाणी दी, और काव्य की भाषा में सहजता और जीवन्तता लाने का प्रयास किया। प्राचीन क्लैसिकल भाषा के स्थान पर लोक-भाषा का माध्यम स्वीकार किया। उन्होंने प्रतीकों और बिम्बों का भी सहारा लिया। स्वच्छन्दतावाद का ऐतिहासिक विवेचन करने के पश्चात् लेखक ने अंग्रेजी के प्रमुख स्वच्छन्द कवि ब्लेक, बर्न्स, वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, साबर्टसबे, स्काट, बायरन, शैली और कीट्स के काव्य का संक्षिप्त पर साधार विवेचन किया है। अन्त में इन कवियों के काव्यादर्श पर भी प्रकाश डाल कर अपने पर्यालोचन की समाप्ति की है।

लेखक को भी पारिभाषिक शब्दों का निर्धारण करने में कठिनाई अनुभव हुई है। Super ego (सुपर इगो) के लिए उसने नैतिकमन का प्रयोग किया है। पर इगो के लिए 'अहं' प्रचलित है। वैज्ञानिक तकनीकी आयोग ने इसके लिए 'अत्यहम्' निर्धारित किया है। नैतिकमन से सुपर इगो का भाव व्यक्त नहीं होता। पृष्ठ ३४ पर कहा गया है, स्वच्छन्द साहित्य अधिकांशतः अचेतन मन की उपज है। हमारा अनुमान है कि वह अधिकांशतः अचेतन की अपेक्षा अवचेतन मन की उपज होता है। इसमें सन्देह नहीं, पुस्तक अपने विषय को संक्षेप में बड़ी स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करती है। उसमें लेखक के विपुल अध्ययन और जागरूकता के दर्शन होते हैं। भाषा में सांस्कारिता है, प्रवाह है। कहीं-कहीं वाक्य-विन्यास में आंग्ल-प्रभाव है, जो वर्तमान सभी लेखकों में कम या अधिक मात्रा में दिखाई देता है। पुस्तक के अन्त में पारिभाषिक शब्दों और सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची का अभाव खटकता है।

● ●

पतिता की साधना

'पतिता की साधना' एक 'मौलिक सामाजिक उपन्यास' है। लेखक हैं हिन्दी के यशस्वी कहानीकार और उपन्यासकार पं० भगवती प्रसाद बाजपेयी। उपन्यास का आकार काफी बड़ा है, तीन सौ पृष्ठों को वह घेरे हुए है। उपन्यास को हम एक लम्बी कहानी कह सकते हैं; ऐसी कहानी जो जीवन के एक ही सूत्र को हिला कर चुप नहीं हो जाती; उसके रेशे-रेशे को हमारे सामने झलकाने का प्रयत्न करती है; हम बिना प्रयास ही 'वह किस किस्म के तन्तुओं का बना है', जान जाते हैं। कहानी कहना और सुनना मनुष्य जाति की प्राकृतिक भूख है। उसमें कुछ ऐसे हैं जो कहानी कहे बिना रह ही नहीं सकते और कुछ ऐसे जो केवल सुन ही सकते हैं; कह नहीं सकते। 'कहानी कहना' भी एक प्राकृतिक देन है, जीवन के अनुभवों से उसकी शक्ति बढ़ती है। केवल कवि ही 'पैदा' नहीं होता कहानीकार भी पैदा होता है; ठोंक-पीट कर उसे बनाया नहीं जा सकता। पं० भगवती प्रसाद जी इसी श्रेणी के कहानीकार हैं, वे कहानी कहेंगे, हजार बार मना करने पर भी कहेंगे। उनका यह स्वभाव है, प्रकृति-धर्म है।

कहानी कहने के भी तरीके हैं। उनकी भी 'टेकनिक' है। कई बार प्रसिद्ध कहानीकारों के सामने प्रारम्भ करने की अड़चन आ खड़ी होती है। प्रयत्न करने पर भी वे जो कुछ लिखते हैं, उसे पढ़ने के लिए आँखों में लालच नहीं पैदा होता—'प्रथमग्रासे मक्षिका पातः' इसी को कहते हैं। इसी प्रकार उपसंहार करते समय भी यही समस्या विस्फुरित नेत्रों से कहानीकार को देखने लगती है। बाजपेयी जी इन दोनों अड़चनों से मुक्त हैं।

हिन्दी के एक कीर्तिलब्ध कहानीकार तो ऐसी परिस्थिति में कई बार असफल हो चुके हैं। खींचतान कर अन्त कर देने की धुन में कुछ पात्रों को वे आत्महत्या करने की सलाह दे देते थे; चाहे कहानी की घटना-धारा का पानी उन्हें मार डालने के लिए गहरा न भी हो। पाठक उनके पात्रों को इस तरह बुचबुचाते देख कर हँसने लगता है और कहने लगता है,—'तुम भले ही

इनके मुँह में पानी उँड़ेलो, ये तुम्हारे चुप कर देने पर भी बोलेंगे और तुम्हें कोसेंगे।' जब तक घटनाओं का स्वाभाविक विकास नहीं हो लेगा; पात्र का सहसा अन्त नहीं हो सकेगा। पात्र को एक बार कहानी की दुनियाँ में प्रवेश कर और उसमें प्राण भर कर कहानीकार उससे मनमाने ढंग से छुट्टी नहीं ले सकता।

'पतिता की साधना' को कहने का तरीका सीधा-साधा है। कहानीकार एक इतिहासकार का रूप धारण कर घटनाओं का वर्णन करते जाते हैं, वर्णन के साथ ही आलोचना भी। उपन्यास की वस्तु (प्लाट) पहिले-पहल तो अस्त-व्यस्त-सी शिथिल प्रतीत होती है पर जब हम उसके किनारे पहुँचने लगते हैं तो बिखरे सूत्र एक हो जाते हैं और इस तरह वह कसी हुई बन जाती है। यद्यपि उसमें ऐसे 'तार' भी हैं, जो पूरे सूत्र में गुँथ नहीं पाये हैं तो भी उनसे प्लाट में शिथिलता नहीं आने पायी है। प्रत्युत उन्होंने 'प्लाट' में प्राण-प्रतिष्ठा करने वाले पात्रों में चाल लाने में सहायता पहुँचायी है। संक्षेप में वस्तु यह है—नन्दा एक ग्रामीण जमीदार की बहू है जिसको आँखों में उसके 'पति की छाया ही विवाह के समय पड़ सकी है; वह मूर्ति रूप से उनमें बस नहीं पायी। वह विवाह होने के बाद, एक बार भी अपने पति के घर नहीं गयी, पति-मिलन के पूर्व ही उसके सुहाग का सिंदूर पुछ गया। वह विधवा हो गयी और अपने भाई-भौजाइयों के साथ रहने लगी। उसके छोटे देवर के विवाह के समय वह अपनी ससुराल जाती है। वहाँ मेहमानों में उसके रिश्ते में लगने वाला देवर हरिनाम भी आता है। वह नन्दा के सलोने रूप पर मोहित हो जाता है। नन्दा अपनी नँनद चन्द्रमुखी के विवाहोत्सव के उन्माद में स्वयं उन्मादिनी बन जाती और हरिनाम के भुजपाश में बँध जाती है। विवाह हो जाने के बाद वह अपने भाइयों के यहाँ लौट जाती है। वहाँ सहसा एक दिन हरिनाम पहुँच जाता है और नन्दा केवल उसकी भुजाओं में नहीं बँधती वह अपनी भावज को अपनी दूसरी धोती पहने हुए सोने के कमरे के निकट द्वार की चौखट पर उदास बैठी हुई अपने ऊपर धीरे-धीरे पंखा झलते हुए भी दीख पड़ती है। परिणामतः उसे उसके बड़े भाई-भौजाई कानपुर में छोड़ आते हैं। वहाँ उसे 'प्रसव' होता है और फिर वह वेश्याओं के मुहल्ले में 'वेश्या' कहलाते हुए भी अवेश्या रहती है। हरिनाम अपने भाई से झगड़ा होने के कारण एक व्यक्ति द्वारा चलाये गये मानहानि के मामले में जेल जाता है। वहाँ से छूटकर अपने 'कर्म' के पश्चाताप में आँखों को अन्धी बना लेता है और 'सूरदास' के रूप में कानपुर में ही भिखारियों के बीच रहता है। भूलते-भटकते हुए वह

'नन्दा' से मिलता है और फिर अन्त में नन्दा के नन्दोई के जरिये नन्दा का सारा भेद खुल जाता है और फिर सब एक हो जाते हैं।

उपन्यास के पात्रों का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक ही नहीं है, सजीव भी है। 'नन्दा' वेश्या कहला कर भी बारह वर्ष तक अवेश्या कैसे रही, यह प्रश्न उन्हीं को सता सकता है जो व्यक्ति के हृदय में उत्पन्न होने वाली भावना को नहीं समझते। 'नन्दा' मामूली स्त्री के रूप में चित्रित नहीं की गयी है और न उसे मनुष्येतर ही बनाया गया है। वह जितनी स्वाभाविकता के साथ पतित हुई है उतनी ही स्वाभाविकता के साथ अपतित भी रही है। उसके हृदय में 'पाप-पुण्य' का द्वन्द्व अहर्निश होता रहा है। उसने केवल 'एक' को अपना सर्वस्व लुटाया, और जिसकी वह पुजारिन थी, उसी को अपने हृदय के आसन पर अन्त तक बिठलाये रही। जिस तरह 'नन्दा' का चरित्र, लेखक ने ऊँचा उठाया है उसी प्रकार 'हरिनाम' भी खूब ऊँचा उठता है। वह 'नन्दा' जैसी नायिका का सर्वथा नायक बनने योग्य है। उसकी साधना भी ईर्ष्या उत्पन्न करने वाली है, वह रूप-ज्योति पर शलभ के समान टँग पड़ने वाला 'कीड़ा' मात्र नहीं है, उसके पास सिद्धान्त भी हैं। उन्हीं को सत्य बनाने के लिए वह दर-दर फिरा। लाखों यातनाएँ सहीं। अन्य पात्र भी अपने निर्धारित कार्य-भार का ठीक तरह से निर्वाह करते हैं। किसी भी पात्र को उठा लीजिए, उस पर जिस सोसायटी का रंग चढ़ा हुआ है, वह उसी का हूबहू चित्र दीख पड़ता है। कृष्ण गोपाल, देहाती जमींदार का ऐसा चित्र है जिसकी आकृति के पहचानने के लिए 'टार्च' फेंकने की जरूरत नहीं है। उसके मैनेजर भी चुनन्दे मुखत्यार हैं जिनका पेशा ही मालिक के सामने 'ठकुर सुहाती' कहना और गरीब प्रजा पर जुल्म ढाने के लिए मालिक को प्रोत्साहित करना है। नन्दा की बड़ी भौजाई उसके भाई की दूसरी पत्नी है। अतः उसके पति उससे स्वभावतः कुछ 'दबते' थे। स्वभाव का चिड़चिड़ापन उसका हर जगह झलक उठता है। उसके स्वभाव को सन्तुलित करने के लिए उसकी देवरानी की रचना की गयी है, जिसके सौजन्य प्रेम ने नन्दा के रेतीले जीवन में 'ओयसिस' खड़े कर रखे थे। सहदेव मामा, जिस तरह देहाती बूढ़े हुआ करते हैं, वैसे ही हैं। इसी प्रकार भिखमंगों का चरित्र-चित्रण भी सजीव हुआ है। बारात का वर्णन तो इतना अधिक विस्तृत है, कि उससे बहुत सी बातें सीखी जा सकती है। उसे विस्तृत करने का भी कारण है क्योंकि वहीं नायिका के नाजुक जीवन के बाँध में फिसलाहट प्रारम्भ होती है। उसके यौवन भरे मनोभावों को उस ओर ले जाने के लिए 'चन्द्रमुखी' के विवाह की उद्दाम भावनाएँ सीढ़ी का काम दे रही हैं; वह अनभ्यस्त अल्हड़

छोकरी उन पर चढ़कर संभली न रह सकी। पात्रों के चरित्र-चित्रण में कहानीकार ने अपने मनोविज्ञान, और समाज की अवस्था के सूक्ष्म निरीक्षण का अच्छा परिचय दिया है। उनमें हमें यथार्थ कल्पना का सुन्दर स्वरूप दीख पड़ता है। हिन्दू-समाज में विधवा का क्या स्थान है, इसे कपोलों को आँसुओं से सतत् तर रखने वाली 'नन्दा' से पूछो। इस उपन्यास की सफलता उसके हूबहू वर्णन में है। वर्णन कहीं-कहीं इतना वास्तविक हो गया है कि प्रतीत होता है; कहानीकार अपने पाठक की ग्राह्यशक्ति की परीक्षा ले रहे हैं। एक जगह 'नन्दा' को हरिनाम के भुजपाश में भर कर और उस पर शतशः चुम्बनों की वर्षा कर भी उन्होंने उसकी 'धोती बदलवा' ही डाली। उस प्रसंग का इतना खुला वर्णन आवश्यक न था। इसी एक स्थल को छोड़ कर हमें उनके वर्णनों ने अँगुली उठाने का अवसर नहीं दिया। आयरिश कवि ऑस्कर वाइल्ड के विषय में कहा जाता है कि वह परस्पर विरोधी बात और सुभाषित कहने में इतना पटु था कि उसका अनुकरण 'शा' जैसे प्रतिष्ठित साहित्यकार भी करते रहे हैं। 'पतिता की साधना' में ऐसे वाक्यों की कमी नहीं है जो सुन्दर सुभाषित के रूप में न कहे जा सकते हों। उदाहरण के लिए हम यहाँ दो-तीन ऐसे वाक्य उद्धृत करते हैं—(१) अन्याय को सहन न कर के जो जाति मर मिटती है, मैं नहीं मानता कि कभी उसका विनाश सम्भव है। (२) मैं आज के विद्रोह को इसलिए स्वीकार करता हूँ कि वह कल के सहयोग को जन्म देता है। (३) जो लोग आज एक बात को ज्ञान या अज्ञान में सोच-समझ कर या बिना सोचे हुए ही कर डालते और उसे 'भूल' कह कर अलग जा खड़े होते हैं, वे बिल्कुल नहीं सोचते कि, उनके इस अनिश्चित स्वरूप के कारण कितनी निर्मल और निर्दोष भावनाओं की हत्या हो जाया करती है। (४) जनता की उत्तेजना को सदा दबाये रखना उसकी उस स्वाभाविक वीरता और साहस की भावना को नष्ट करना है, जो समाज के संगठन का प्राण है।

उपन्यास में एक-दो स्थल पर लेखक भूले-से दीखते हैं। पृष्ठ २७० पर 'चपरासी ने हरी से कहलाया—कहो ईश्वर को हाजिर-नाजिर मान कर सच कहेंगे। सच के सिवा झूठ 'बिलकुल न कहेंगे।' यहाँ 'हरी' जो दफा ५०० भारतीय दण्ड विधान के अन्तर्गत अभियुक्त है, शपथ लेकर बयान देता है। फौजदारी मामलों में भारतीय कानून में मुलजिम के बयान के लिए 'शपथ' का विधान नहीं है। हाँ, ब्रिटिश कानून में यह विधान है। इसके अतिरिक्त, मैजिस्ट्रेट अभियुक्त के बयान पर ही बिना स्वतन्त्र शहादत लिए उसे सजा

नहीं दे सकता और मुलजिम का बयान इस्तगासे की शहादत होने पर लिया जाता है।

इस कानूनी 'प्रोसीज़र' की गलती के कारण 'चरित्र-चित्रण' में कोई फीकापन नहीं आने पाया। हम 'पतिता की साधना' की हिन्दी के अच्छे उपन्यासों में गणना करते हैं। उसका प्रारम्भ और अन्त दोनों प्रभावोत्पादक हैं। कई उपन्यासकारों के समान उन्होंने अपने सभी पात्रों को अन्त में स्टेज पर खड़ा कर उन्हें उनका पारिश्रमिक नहीं बाँटा है। कहानी के विकास में जिन पात्रों का अत्यधिक सम्पर्क रहा है वे ही अन्त में लाकर खड़े किये गये हैं। हम लेखक से इसी कोटि के उपन्यास की आशा करते थे।

● ●

कोरा कागज

यह श्री अनन्त गोपाल शेवड़े का नवीनतम उपन्यास है। श्री शेवड़े वर्षों से—कालेज-जीवन से ही हिन्दी कथा साहित्य की सृष्टि करते आ रहे हैं। यद्यपि आपकी मातृभाषा मराठी है तो भी आपने अपनी अभिव्यक्ति के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी को अपनाया है। आपका किसी भी संस्कारी हिन्दी-भाषी लेखक के समान ही हिन्दी पर पूर्ण अधिकार है। यों आप हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी और मराठी में भी समय-समय पर लिखते रहते हैं। पर आपकी हिन्दी-लेखक के रूप में ही ख्याति है। आप उपन्यास के अतिरिक्त कहानी-रेखाचित्र और ललित-निबन्ध भी लिखते जा रहे हैं। कहने का आशय यह कि आप में सृजनात्मक प्रतिभा होने के कारण साहित्य की प्रत्येक ललित विधा के प्रति आपकी रुझान है। गाँधीवादी होने के कारण आपका साहित्य आदर्श-चरित्रों की मनोरम महक से मुग्ध करता है। कभी-कभी यह भी शंका होने लगती है कि क्या ऐसे भी चरित्र समाज में हो सकते हैं? पर 'समाज' में सामान्य ही नहीं, विशिष्ट पात्र भी होते हैं जो उनके 'आदर्श पात्र' को अपवाद नहीं रहने देते।

प्रस्तुत उपन्यास का नायक निरंजन भी एक आदर्श पात्र है जो साहित्य-सृजन की अदम्य लालसा से पीड़ित रहता है और जो भी प्रलोभन उसके मार्ग में बाधक बनते हैं या बनना चाहते हैं, उन्हें सहर्ष ठुकरा देता है। वह श्रेय और प्रेय के संघर्ष में 'श्रेय' को ही स्वीकारता है और श्रेय है— 'साहित्य-सृजन'। निरंजन कालेज जीवन से ही लिखने लगता है और 'आकाशवाणी' पर उसका स्वर भी ध्वनिक्षेपित होने लगता है। पाठक उसका परिचय आकाश-वाणी के 'साहित्य-मंजूषा' कार्य-क्रम में कहानी-वाचन से प्राप्त करते हैं।—'दुबला-पतला पर कद से ऊँचा, गाल पिचके हुए, आँखें धँसी हुई लेकिन पैनी-चमकती हुई, बाल सूखे, हरफन मौला की तरह अस्तव्यस्त। डाढ़ी बढ़ी हुई—शायद दस-बारह दिनों से उन्हें उस्तरा न लगा हो।' आत्म-विस्मृत लेखक प्रायः इसी 'बानक' में मिलते हैं, निरंजन 'कहानी' में अपनी ही बीती बोल रहा था जिसे

'अनाउन्सर' अपर्णा बड़ी तन्मयता से सुन रही थी। कहानी में असफल प्रेम की चीत्कार थी। कहानी की कमला उसकी प्रेयसी 'रीता' थी। निरंजन की यह कहानी जब पत्रिका में छपी तो उसके प्राध्यापक डॉ० शिवचरण लाल तथा अन्य व्यक्ति ईर्ष्यालु हो उठे। निरंजन गरीब छात्र था। बड़ी कठिनाई से उदर-पोषण कर पाता था। प्राध्यापकों के षड्यन्त्र के कारण वह एम० ए० की परीक्षा तृतीय श्रेणी में ही उत्तीर्ण कर सका। यहाँ वहाँ नौकरी के प्रयत्न असफल होने पर उसने निश्चय किया कि वह आई० ए० एस० की परीक्षा देगा। खूब परिश्रम करने के कारण वह आई० ए० एस० में चुन लिया गया और सौभाग्य से उसी नगर में उसकी नियुक्ति हो गयी। वह समाज के छोटे कहे जाने वाले उन सभी व्यक्तियों से मिला जिन्होंने उसकी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहायता की थी। उसके ईर्ष्यालु प्राध्यापक तथा मित्रों का रुख परिवर्तित हो जाता है, वे उसका अभिनन्दन करते हैं। जब निरंजन का विवाह एक सम्पन्न परिवार में 'जयन्ती' से हो जाता है तो उसके सहकर्मियों में पुनः ईर्ष्या जागृत हो जाती है। सोचने लगते हैं 'यह एक अजीब भाग्यवान प्राणी है जो देखते-देखते उन्हें पीछे छोड़ कर आसमान पर चढ़ गया है। कोई कितना भी बड़ा हो, वह कभी यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि कोई उससे आगे बढ़े।' सामान्यतः यदि 'तुम गरीब हो, तकलीफ में हो, अपमान से तिलमिला रहे हो तो बहुत अच्छा'। दया और सहानुभूति के नक्राश्रु तुम्हें अवश्य मिलेगा और कुछ नहीं। 'तुम आगे बढ़े नहीं कि शत्रुओं की संख्या की सीमा नहीं।' यह लोक-सत्य निरंजन के जीवन में भी घटता रहा है। निरंजन 'जयन्ती' के विवाह-सूत्र में बँध कर सुखी नहीं हो पाया क्योंकि उसका हृदय 'रीता' से संलग्न था पर उसके तिरस्कार के पश्चात् उसने समाज में सम्मान से जीने की लालसा से 'जयन्ती' से विवाह कर लिया था, पर 'जयन्ती' और निरंजन में 'केर बेर का संग' था। निरंजन आधुनिकता से दूर एकान्तप्रिय और जयन्ती आधुनिकता में समाज-प्रिय। एक की वृत्ति अन्तर्मुखी और दूसरे की बहिर्मुखी। जयन्ती लेखक की पीड़ा को जरा भी अनुभव नहीं कर सकी। अतः वह उससे कतराने लगी। भीतर-ही-भीतर नहीं, बाहर भी उसने अपनी तिरस्कार-भावना को व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया। 'निरंजन' आई० ए० एस० होने के बाद से साहित्य-सेवा से विमुख रहने लगा। एक दिन उसका मन विद्रोह कर उठा। उसने अपनी नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया और घर से विदा ले अज्ञात स्थान-बम्बई चला गया। घर में उसकी कन्या 'वन्दना' अपने पिता के प्रति आदर और प्रेम-भाव रखती थी, और निरंजन भी उसके प्रति अपार ममता रखता

था पर उसकी साहित्य-सृजन की उत्कटता उसके वात्सल्य पर विजयी हुई और वह अज्ञात रूप से बम्बई में रह कर लेखादि लिखने लगा। बम्बई के जीवन को भोगने पर उसे अपनी कहानियों में यथार्थता का रंग भरने में सहायता मिली। वहीं उसकी पूर्व परिचिता आकाशवाणी की कर्मचारिणी अपर्णा से भेंट होती हैं जो उसकी प्रथम कहानी सुन कर ही उसके प्रति आकृष्ट हो गयी थी बहुत समय तक बम्बई की गन्दी गलियों और निम्न स्तर के व्यक्तियों के बीच रह कर जब वह अपर्णा से मिलता है, तब उन दोनों की सोई वासना जागृत हो तृप्त हो जाती है। और निरंजन के आदर्श जीवन के भाल पर हलका-सा श्याम डिठाना लगा जाती है। निरंजन का बम्बई में सिनेमा पत्रिका की 'फैशनपरस्त सम्पादिका मजुश्री से भी परिचय होता है। वह उनकी कहानी प्रकाशित करती है और उनका सिने-जगत से सम्बन्ध कराने का प्रस्ताव करती है और अपार धन का प्रलोभन देती है। निरंजन इसे भी अपनी साधना में बाधक समझ बम्बई के जीवन से ऊब कर हिमालय की ओर चला जाता है जहाँ उसकी एक महात्मा से भेंट होती है और उनके उपदेश से वह अनुप्राणित होता है। उनके आश्रम में रह कर वह साहित्य-साधना में पुनः प्रवृत्त हो जाता है। बद्रीनाथ, केदारनाथ आदि तीर्थ स्थानों के वातावरण में उसका मन खूब रमता है। सात्विक वातावरण से उत्फुल्ल हो उठता है। वहीं उसकी प्रथम प्रेमिका से भेंट भी हो जाती है। वह पुनः शहर की ओर लौटता है। दिल्ली स्टेशन पर शीत और भूख से आहत होता है। अर्थाभाव से वाहन प्राप्त करने में कठिनाई होती है पर एक टैक्सी चालक उस पर दया कर उसे अपनी गाड़ी में बैठा लेता है और एक वेश्या के संरक्षण में रख आता है, जहाँ वह उसकी चिकित्सा करा कर उसे स्वस्थ बनाती है। यहाँ वह वेश्या-जीवन से परिचित होता है। अपनी संरक्षिका के विशिष्ट जीवन से उसे ज्ञात होता है कि वेश्या-जीवन लाचारी का, सामाजिक उत्पीड़न के परिणाम का जीवन है।

इस उपन्यास में निरंजन के चरित्रांकन के साथ-साथ समाज के विभिन्न स्तर के जीवन-चित्र चित्रित हुए हैं जो यथार्थ के रंग से रंजित हैं। आकाशवाणी के स्त्री-पुरुष अधिकारी, कालेज के प्राध्यापक, चित्रपट-पत्रों के सम्पादक-सम्पादिका, साधु आदि की प्रकृति और प्रवृत्तियों पर फबीला और यत्र-तत्र चुटीला व्यंग्य किया गया है। वास्तव में लेखक संघर्ष में ही जिन्दा रहता है। यह हम सभी जानते हैं कि 'लेखक का नाम बिकता है, किताब नहीं। सच्चा लेखक सब कुछ खो सकता है पर अपने 'कागज' को बहुत समय तक कोरा नहीं रख सकता। सर्जन की पीड़ा उसे सतत सताती रहती हैं, 'कोरा कागज' में यही

सिद्धान्त उपन्यासित किया गया है। लेखक की लेखनी में बल है, भाषा में प्रवाह है ठीक उसी प्रकार जैसा कवि की वाणी में होता है।

हिमालय का वर्णन बड़ी तन्मयता के साथ किया गया है। कई स्थलों पर ऐसा लगता है, लेखक अपना ही जीवन जी रहा है। उसके अन्तर्मन पर विविध अनुभवों की जो रेखाएँ समय-समय पर अंकित होती गयी हैं, उन्हें मानों उसे उभार कर रख दिया गया है। 'निरंजन' का लेखकी आदर्श इतना ऊँचा दिखाया गया है कि उसे कोई छू भी सकता है, यह सन्देह हो सकता है। पर पढ़ते समय उसकी असम्भावनाओं के बावजूद मन उसके साथ असाधारणीकृत नहीं हो पाता। अन्त तक उसके साथ लगा रहता है। यह उपन्यास की सफलता का रहस्य है।

एकाध स्थान पर तथ्य विरोधी कथन भी मिलता है। यथा, पृष्ठ १८४ पर निरंजन का नौकरी छोड़ने पर पेंशन का अनुमान लगाना। वास्तविकता यह है कि जो सरकारी कर्मचारी त्याग-पत्र दे देता है, वह पेंशन का अधिकारी नहीं होता। एक स्थान पर किस्त देना के लिए 'हफता भरना' लिखा गया है, जो साधु हिन्दी में प्रचलित नहीं है। परन्तु राष्ट्रभाषा हिन्दी की शब्द-सम्पदा विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं के शब्दों से उतरोत्तर समृद्ध होती जा रही है, जिसका स्वागत होना चाहिये। भाषा का मूल स्वरूप उसके व्याकरणिक ढाँचे में दृष्टि-गोचर होता है; शब्दों में नहीं।

शेवड़े जी के उपन्यास प्राय: प्रेम की भूमिका पर प्रतिष्ठित होते है। 'कोरा कागज' भी इसका अपवाद नहीं है पर इसका 'पट' समाज के कई अंगों को घेर लेता है, जो सामयिक प्रवृत्तियों से उच्छ्वसित हैं। आशा है, लेखक का यह उपन्यास उसी तरह हिन्दी-जगत् में समादृत होगा, जिस तरह किसी हिन्दी उपन्यासकार का होना चाहिये। शेवड़े जी अहिन्दी-भाषी उपन्यासकार के रूप में नहीं, हिन्दी उपन्यासकार के रूप में सम्मान के अधिकारी हैं।